ग्रन्थ-परीक्षा ।

(प्रथम भाग ।)

अर्थात्

उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार
और जिनसेनत्रिवर्णाचारके

परीक्षालेखोंका संग्रह ।

लेखक,
देवबन्द (सहारनपुर) निवासी
श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार ।

प्रकाशक,
जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय, बम्बई ।

प्रथमावृत्ति] द्वितीय भाद्र १९७४ । [मूल्य छह आने ।

सितम्बर १९१७ ।

Published by Nathuram Premi, Proprietor, Jain Grantha
Ratnakar Karyalaya, Hirabag, Bombay.

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay Vaibhao Press,
Servants of India Society's Home, Sandhurst
Road, Girgaon, Bombay.

निवेदन ।

जैनहितैषीमें लगभग चार वर्षसे एक ' ग्रन्थ-परीक्षा ' शीर्षक लेखमाला निकल रही है । इसके लेखक देवबन्द निवासी श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं । आपके इन लेखोंने जैनसमाजको एक नवीन युगका सन्देशा सुनाया है, और अन्धश्रद्धाके अँधेरेमें निद्रित पड़े हुए लोगोंको चकचौंधा देनेवाले प्रकाशसे जाग्रत कर दिया है । यद्यपि बाह्यदृष्टिसे अभी तक इन लेखोंका कोई स्थूलप्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है तो भी विद्वानोंके अन्तरंगमें एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।

जैनधर्मके उपासक इस बातको भूल रहे थे कि जहाँ हमारे धर्म या सम्प्रदायमें एक ओर उच्चश्रेणीके निःस्वार्थ और प्रतिभाशाली ग्रन्थकर्त्ता उत्पन्न हुए हैं वहाँ दूसरी ओर नीचे दर्जेके स्वार्थी और तस्कर लेखक भी हुए हैं, अथवा हो सकते हैं, जो अपने खोटे सिक्कोंको महापुरुषोंके नामकी मुद्रासे अंकित करके खरे दामोंमें चलाया करते हैं । इस भूलके कारण ही आज हमारे यहाँ भगवान् कुन्दकुन्द और सोमसेन, समन्तभद्र और जिनसेन (भट्टारक), तथा पूज्यपाद और श्रुतसागर एक ही आसन पर बिठाकर पूजे जाते हैं । लोगोंकी सदसद्विवेकबुद्धिका लोप यहाँ तक हो गया है कि वे संस्कृत या प्राकृतमें लिखे हुए चाहे जैसे वचनोंको आप्त भगवानके वचनोंसे जरा भी कम नहीं समझते ! ग्रन्थपरीक्षाके लेखोंसे हमें आशा है कि भगवान् महावीरके अनुयायी अपनी इस भूलको समझ जायँगे और वे आप अपनेको और अपनी सन्तानको धूर्त ग्रन्थकारोंकी चुंगलमें न फँसने देंगे।

जिस समय ये लेख निकले थे, हमारी इच्छा उसी समय हुई थी कि इन्हें स्वतंत्र पुस्तकाकार भी छपवा लिया जाय, जिससे इस विषयकी ओर लोगोंका ध्यान कुछ विशेषतासे आकर्षित हो; परंतु यह एक बिलकुल ही नये ढंगकी चर्चा थी, इस लिए हमने उचित समझा कि कुछ समय तक इस सम्बन्धमें विद्वानोंकी सम्मतिकी प्रतीक्षा की जाय । प्रतीक्षा की गई और खूब की गई । लेखमालाके प्रथम तीन लेखोंको प्रकाशित हुए तीन वर्षसे भी अधिक समय बीत गया; परंतु कहींसे कुछ भी आहट न सुन पड़ी; विद्वन्मण्डलीकी ओरसे अब तक इनके प्रतिवादमें कोई एक

भी लेख नहीं निकला; बल्कि बहुतसे विद्वानोंने हमारे तथा लेखक महाशयके समक्ष इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया कि आपकी समालोचनायें यथार्थ हैं। जैनमित्रके सम्पादक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने पहले दो लेखोंको जैनमित्रमें उद्धृत किया और उनके नीचे अपनी अनुमोदनसूचक सम्मति प्रकट की। इसी प्रकार दक्षिण प्रान्तके प्रसिद्ध विद्वान् और धनी सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजीने लेखमालाके प्रायः सभी लेखोंको मराठीमें प्रकाशित कराके मानों यह प्रकट कर दिया कि इस प्रकारके लेखोंका प्रचार जितना अधिक हो सके उतना ही अच्छा है।

यह सब देखकर अब हम ग्रन्थपरीक्षाके समस्त लेखोंको पृथक् पुस्तकाकार छपानेके लिए तत्पर हुए हैं। यह लेखमाला कई भागोंमें प्रकाशित होगी; जिनमेंसे पहले दो भाग छपकर तैयार हैं। पहले भागमें उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार और जिनसेनत्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थोंकी परीक्षाके तीन लेख हैं और दूसरे भागमें भद्रबाहुसंहिताकी परीक्षाका विस्तृत लेख है। अब इनके बाद जो लेख निकले हैं और निकलेंगे वे तीसरे भागमें संग्रह करके छपाये जायँगे।

प्रथम भागका संशोधन स्वयं लेखक महाशयके द्वारा कराया गया है, इससे पहले जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं वे सब इस आवृत्तिमें दूर की गई हैं। साथ ही जहाँ तहाँ आवश्यकतानुसार कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन भी किया गया है।

समाजमें केवल निष्पक्ष और स्वतंत्र विचारोंका प्रचार करनेके उद्देश्यसे यह लेखमाला प्रकाशित की जा रही है और इसी कारण इसका मूल्य बहुत कम—केवल लागतके बराबर—रक्खा गया है। आशा है कि सत्यप्रेमी पाठक इसका प्रचार करनेमें हमारा हाथ बँटावेंगे और प्रत्येक विचारशीलके हाथों तक यह किसी न किसी तरह पहुँच जाय, इसका उद्योग करेंगे।

जैनसमाजके समस्त पण्डित महाशयोंसे प्रार्थना है कि वे इन लेखोंको ध्यानपूर्वक पढ़ें और इनके विषयमें अपनी अपनी स्वतन्त्र सम्मति हमारे पास भेजनेकी कृपा करें। इसके सिवाय निष्पक्ष विद्वानोंका यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि वे व्याख्यानों तथा समाचारपत्रों आदिके द्वारा लोगोंको ऐसे ग्रन्थोंसे सावधान रहनेके लिए सचेत कर दें।

द्वितीय भाद्र कृष्ण ७ }
सं० १९७४ वि० । }

प्रार्थी:—
नाथूराम प्रेमी।

ग्रन्थ-परीक्षा ।

१

उमास्वामि-श्रावकाचार ।

जैनसमाजमें उमास्वामि या 'उमास्वाति' नामके एक बड़े भारी विद्वान् आचार्य होगये हैं; जिनके निर्माण किये हुए तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और गंधहस्तिमहाभाष्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण बड़ी बड़ी टीकायें और भाष्य बन चुके हैं। जैन सम्प्रदायमें भगवान् उमास्वामिका आसन बहुत ऊँचा है और उनका पवित्र नाम बड़े ही आदरके साथ लिया जाता है। उमास्वामि महाराज श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके प्रधान शिष्य कहे जाते हैं और उनका अस्तित्व विक्रमकी पहली शताब्दीके लगभग माना जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के सिवाय, भगवत् उमास्वामिने किसी अन्य ग्रंथका प्रणयन किया या नहीं? और यदि किया तो किस किस ग्रंथका? यह बात अभीतक प्रायः अप्रसिद्ध है। आमतौर पर जैनियोंमें, आपकी कृतिरूपसे, तत्त्वार्थसूत्रकी ही सर्वत्र प्रसिद्धि पाई जाती है। शिलालेखों तथा अन्य आचार्योंके बनाए हुए ग्रन्थोंमें भी, उमास्वामिके नामके साथ, 'तत्त्वार्थसूत्र' का ही उल्लेख मिलता है। *

---

* यथाः—

" अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥ "

—श्रवणबेल्गोलस्थशिलालेखः।

" श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम ॥ "

—वादिराजसूरिः

" उमास्वामि-श्रावकाचार " भी कोई ग्रंथ है, इतना परिचय मिलते ही पाठकहृदयोंमें स्वभावसेही यह प्रश्न उत्पन्न होना संभव है कि, क्या उमास्वामि महाराजने कोई पृथक् ' श्रावकाचार ' भी बनाया है ? और यह श्रावकाचार, जिसके साथमें उनके नामका सम्बन्ध है, क्या वास्तवमें उन्हीं उमास्वामि महाराजका बनाया हुआ है जिन्होंने कि ' तत्त्वार्थसूत्र ' की रचना की है ? अथवा इसका बनानेवाला कोई दूसराही व्यक्ति है ? जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रंथके शुभ नामका परिचय मिला था, उस समय मेरे हृदयमें भी ऐसे ही विचार उत्पन्न हुए थे । मेरी बहुत दिनोंसे इस ग्रंथके देखनेकी इच्छा थी । परन्तु ग्रंथ न मिलनेके कारण वह अभीतक पूरी न हो सकी थी । हालमें श्रीमान् साहु जुगमंदरदासजी रईस नजीबाबादकी कृपासे मुझे ग्रंथका दर्शनसौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिये मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूँ और वे मेरे विशेष धन्यवादके पात्र हैं ।

इस ग्रंथपर हिन्दी भाषाकी एक टीका भी मिलती है; जिसको किसी ' हलायुध ' नामके पंडितने बनाया है । हलायुधजी कब और कहाँपर हुए और उन्होंने किस सन्-सम्वत्में इस भाषाटीकाको बनाया इसका कुछ भी पता उक्त टीकासे नहीं लगता । हलायुधजीने, इस विषयमें, अपना जो कुछ परिचय दिया है उसका एक मात्र परिचायक, ग्रंथके अन्तमें दिया हुआ, यह छन्द है:-

" चंद्रवाडकुलगोत्र सुजानि । नाम हलायुध लोक बखानि ।
तानैं रचि भाषा यह सार । उमास्वामिको मूल सुसार ॥ "

इस ग्रंथके श्लोक नं० ४०१ की टीकामें, ' दुःश्रुति ' नामके अनर्थदंडका वर्णन करते हुए, हलायुधजीने **मोक्षमार्गप्रकाश, ज्ञानानंदनिर्भरनिजरसपूरितश्रावकाचार, सुदृष्टितरंगिणी, उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला, रत्नकरंडश्रावकाचारकी पं० सदासुखजीकृत भाषा-**

वचनिका और विद्वज्जनबोधकको पूर्वानुसाररहित, निर्मूल और कपोलकल्पित बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि "इन शास्त्रोंमें आगम-विरुद्ध कथन किया गया है; ये पूर्वापरविरुद्ध होनेसे अप्रमाण हैं, वाग्जाल हैं; भोले मनुष्योंको रंजायमान करैं हैं; ज्ञानी जनोंके आदरणीय नहीं हैं, इत्यादि।" पं० सदासुखजीकी भाषावचनिकाके विषयमें खास तौरसे लिखा है कि, "रत्नकरंड मूल तो प्रमाण है बहुरि देशभाषा अप्रमाण है। कारण पूर्वापरविरुद्ध, निन्दाबाहुल्य, आगमविरुद्ध, क्रम-विरुद्ध, वृत्तिविरुद्ध, सूत्रविरुद्ध, वार्तिकविरुद्ध कई दोषनिकरि मंडित है यातें अप्रमाण, वाग्जाल है।" इन ग्रंथोंमें क्षेत्रपालपूजन, शासनदेवता-पूजन, सकलीकरणविधान और प्रतिमाके चंदनचर्चन आदि कई बातोंका निषेध किया गया है, जलको अपवित्र बतलाया गया है, खड़े होकर पूजनका विधान किया गया है; इत्यादि कारणोंसे ही शायद हलायुध-जीने इन ग्रंथोंको अप्रमाण और आगमविरुद्ध ठहराया है। अस्तु; इन ग्रंथोंकी प्रमाणाता या अप्रमाणताका विषय यहाँ विवेचनीय न होनेसे, इस विषयमें कुछ न लिखकर मैं यह बतलादेना जरूरी समझता हूँ कि हलायुधजीके इस कथन और उल्लेखसे यह बात बिलकुल हल हो जाती है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि आपकी यह टीका 'रत्नकरंडश्रावकाचार' की (पं० सदासुखजीकृत) भाषावचनिका तथा 'विद्वज्जनबोधक' की रचनाके पीछे बनी है; तभी उसमें इन ग्रंथोंका उल्लेख किया गया है। पं० सदासुखजीने रत्नकरंडश्रावकाचारकी उक्त भाषावचनिका विक्रम सम्वत् १९२० की चैत्र कृष्ण १४ को बनाकर पूर्ण की है और 'विद्वज्जनबोधक' संघी पन्नालालजी दूणीवालोंके द्वारा जो उक्त पं० सदसुखजीके शिष्य थे, माघसुदी पंचमी संवत् १९३९ को बनकर समाप्त हुआ है। इसलिए हलायुधजीकी यह भाषाटीका विक्रम संवत् १९३९ के बादकी बनी हुई निश्चित होती है।

हलायुधजीने अपनी इस टीकामें स्थान स्थान पर इस बातको प्रगट किया है कि यह 'श्रावकाचार' सूत्रकार भगवान् उमास्वामी महाराजका बनाया हुआ है। और इसके प्रमाणमें आपने निम्नलिखित श्लोक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसा कि उनकी टीकासे प्रगट है:—

" सूत्रे तु सप्तमेप्युक्ताः पृथक् नोक्तास्तदर्थतः ।
अवशिष्टः समाचारः सोऽत्र वै कथितो ध्रुवम् ॥ ४६२ ॥ "

टीका:—" ते सत्तर अतीचार मैं सूत्रकारने सप्तम सूत्रमें कह्यो है ता प्रयोजन तैं इहां जुदा नहीं कह्या है । जो सप्तमसूत्रमैं अवशिष्ट समाचार है सो यामैं निश्चय करि कह्यो हे। अब याकूं जो अप्रमाण करै ताकूं अनंतसंसारी, निगोदिया, पक्षपाती कैसे नहीं जाण्यो जाय जो विना विचार्या याका कर्त्ता दूसरा उमास्वामी है सो याकूं किया है (ऐसा कहै) सो भी यावचन करि मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही, निंदक, अज्ञानी जाणना ! "

इस श्लोकसे भगवदुमास्वामिका ग्रन्थ-कर्तृत्व सिद्ध हो या न हो; परन्तु इस टीकासे इतना पता जरूर चलता है कि जिस समय यह टीका लिखी गई है उस समय ऐसे लोग भी मौजूद थे जो इस 'श्राव-काचार' को भगवान् उमास्वामि सूत्रकारका बनाया हुआ नहीं मानते थे; बल्कि इसे किसी दूसरे उमास्वामिका या उमास्वामिके नामसे किसी दूसरे व्यक्तिका बनाया हुआ बतलाते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे लोगोंके प्रति हलायुधजीके कैसे भाव थे और वे तथा उनके समान विचारके धारक मनुष्य उन लोगोंको कैसे कैसे शब्दोंसे याद किया करते थे। 'संशयतिमिरप्रदीप' में, **पं० उदयलालजी** काशलीवाल भी इस ग्रंथको भगवान् उमास्वामिका बनाया हुआ लिखते हैं। लेकिन, इसके विरुद्ध **पं० नाथूरामजी प्रेमी**, अनेक सूचियोंके आधारपर संग्रह की हुई अपनी 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ'

नामक सूचीद्वारा यह सूचित करते हैं कि यह ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता भगवान् उमास्वामिका बनाया हुआ नहीं है, किन्तु किसी दूसरे (लघु) उमास्वामिका बनाया हुआ है। परन्तु दूसरे उमास्वामि या लघु उमास्वामि कब हुए हैं, और किसके शिष्य थे, इसका कहीं भी कुछ पता नहीं है। दरयाफ्त करनेपर भी यही उत्तर मिलता है कि हमें इसका कुछ भी निश्चय नहीं है। जो लोग इस ग्रंथको भगवान् उमास्वामिका बनाया हुआ बतलाते हैं उनका यह कथन किस आधारपर अवलम्बित है ? और जो लोग ऐसा माननेसे इनकार करते हैं वे किन प्रमाणोंसे अपने कथनका समर्थन करते हैं ? आधार और प्रमाणकी ये सब बातें अभीतक आम तौरसे कहींपर प्रकाशित हुईं मालूम नहीं होतीं; न कहींपर इनका जिकर सुना जाता है और न श्रीउमास्वामि महाराजके पश्चात् होनेवाले किसी माननीय आचार्यकी कृतिमें इस ग्रंथका नामोल्लेख मिलता है। ऐसी हालतमें इस ग्रंथकी परीक्षा और जाँचका करना बहुत जरूरी मालूम होता है। ग्रंथ-परीक्षाको छोड़कर दूसरा कोई समुचित साधन इस बातके निर्णयका प्रतीत नहीं होता कि यह ग्रंथ वास्तवमें किसका बनाया हुआ है और कब बना है ?

ग्रन्थके साथ उमास्वामिके नामका सम्बन्ध है; ग्रन्थके अन्तिम श्लोकसे पूर्वके काव्यमें * 'स्वामी' शब्द पड़ा हुआ है और खुद ग्रन्थकर्ता महाशय उपर्युक्त श्लोक नं. ४६२ द्वारा यह प्रगट करते हैं कि 'इस ग्रन्थमें सातवें सूत्रसे अवशिष्ट समाचार वर्णित है, इसीसे ७० अतीचार जो सातवें सूत्रमें वर्णन किये गये हैं वे यहां पृथक् नहीं कहे गये;' इन सब बातोंसे यह ग्रंथ सूत्रकार भगवदुमास्वामिका बनाया हुआ सिद्ध नहीं

* अन्तिम श्लोकसे पूर्वका वह काव्य इस प्रकार है:—

"इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमतिसुबोधावसकथं स्वामिभिश्च। विनयभरनतांगाः सम्यगाकर्णयन्तु विशदमतिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवंतु ॥ ४७३ ॥

हो सकता। एक नामके अनेक व्यक्ति भी होते हैं; जैन साधुओंमें भी एक नामके धारक अनेक आचार्य और भट्टारक हो गये हैं; किसी व्यक्तिका दूसरेके नामसे ग्रंथ बनाना भी असंभव नहीं है। इस लिए जबतक किसी माननीय प्राचीन आचार्यके द्वारा यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामिका बनाया हुआ स्वीकृत न किया गया हो या खुद ग्रन्थ ही अपने साहित्यादिसे उसका साक्षी न दे, तबतक नामादिकके संबंध-मात्रसे इस ग्रंथको भगवदुमास्वामिका बनाया हुआ नहीं कह सकते। किसी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें इस ग्रंथका कहीं नामोल्लेख तक न मिलनेसे अब हमें इसके साहित्यकी जांच द्वारा यही देखना चाहिए कि यह ग्रंथ, वास्तवमें, सूत्रकार भगवदुमास्वामिका बनाया हुआ है या कि नहीं ? यदि परीक्षासे यह ग्रंथ सचमुचही सूत्रकार श्रीउमास्वामिका बनाया हुआ सिद्ध हो जाय तब तो ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे यह ग्रंथ अच्छी तरहसे उपयोगमें लाया जाय और तत्त्वार्थसूत्रकी तरह इसका भी सर्वत्र प्रचार हो सके। अन्यथा विद्वानोंको, सर्व साधारणपर, यह प्रगट कर देना चाहिए कि, यह ग्रंथ सूत्रकार भगवदुमास्वामिका बनाया हुआ नहीं है; जिससे लोग इस ग्रंथको उसी दृष्टिसे देखें और वृथा भ्रममें न पड़ें।

ग्रंथको परीक्षा-दृष्टिसे अवलोकन करनेपर मालूम होता है कि इस ग्रन्थका साहित्य बहुतसे ऐसे पद्योंसे बना हुआ है जो दूसरे आचार्योंके बनाये हुए सर्वमान्य ग्रंथोंसे या तो ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं या उनमें कुछ थोडासा शब्द-परिवर्तन किया गया है। जो पद्य ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं वे 'उक्तं च' या 'उद्धृत' रूपसे नहीं लिखे गये हैं और न हो सकते हैं; इसलिए ग्रन्थकर्तानें उन्हें अपने ही प्रगट किये हैं। भगवान् उमास्वामि जैसे महान् आचार्य दूसरे आचार्योंके बनाये हुए ग्रन्थोंसे पद्य लेवें और उन्हें अपने नामसे प्रगट करें, यह

कभी हो नहीं सकता । ऐसा करना उनकी योग्यता और पदस्थके विरुद्ध ही नहीं, बल्कि एक प्रकारका नीच कर्म भी है । जो लोग ऐसा करते हैं उन्हें, यशस्तिलकमें, श्रीसोमदेव आचार्यने साफ तौरसे 'काव्यचोर' और 'पातकी' लिखा है । यथा:—

"कृत्वा कृतीः पूर्वकृता पुरस्तात्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः ।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोस्तु स पातकी च ॥

लेकिन पाठकोंको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस ग्रंथमें जिन पद्योंको ज्योंका त्यों या कुछ बदलकर रक्खा है वे अधिकतर उन *आचार्योंके बनाये हुए ग्रंथोंसे लिये गये हैं जो सूत्रकार श्रीउमास्वामिसे* अनेक शताब्दियोंके पीछे हुए हैं । और वे पद्य, ग्रंथके अन्य स्वतंत्र बने हुए पद्योंसे, अपनी शब्दरचना और अर्थगांभीर्यादिके कारण स्वतः भिन्न मालूम पड़ते हैं । और उन मणिमालाओं (ग्रंथों) का स्मरण कराते हैं, जिनसे वे पद्यरत्न लेकर इस ग्रंथमें गूथे गये हैं । उन पद्योंमेंसे कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, यहां पाठकोंके अवलोकनार्थ प्रगट किये जाते हैं:—

(१) ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे हुए पद्य-

क—पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे ।

"आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ ६६ ॥
ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥ २४९ ॥
संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ ४३७ ॥

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वं ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारत्वमिति हि दातृगुणाः ॥४३८॥"

ये चारों पद्य श्रीअमृतचंद्राचार्यविरचित 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपायसे' उठाकर रक्खे गये हैं । इनकी टकसाल ही अलग है; ये 'आर्या' छंदमें हैं । समस्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इसी आर्याछंदमें लिखा गया है । पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इन पद्योंके नम्बर क्रमशः ३०, ३६, १६८ और १६९ दर्ज हैं ।

ख—यशस्तिलकसे ।

" यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि ।
अंगुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥ ४५ ॥
संगे कापालिकात्रेयीचांडालशवरादिभिः ।
आप्लुत्य दंडवत्सम्यग्जपेन्मंत्रमुपोषितः ॥ ४६ ॥
एकरात्रं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥ ४७ ॥
मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥ २७६ ॥
शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं ।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥ २७९ ॥
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोर्थिभिः सदा ॥ २८४ ॥ "

ये सब पद्य श्रीसोमदेवसूरिकृत यशस्तिकलसे उठाकर रक्खे हुए मालूम होते हैं । इन पद्योंमें पहले तीन पद्य यशस्तिलकके छटे आश्वासके और शेष पद्य सातवें आश्वासके हैं ।

ग--योगशास्त्र (श्वेताम्बरीय ग्रंथ) से।

" सरागोऽपि हि देवश्चेद्गुरुरब्रह्मचार्यपि ।
कृपाहीनोऽपि धर्मश्चेत्कष्टं नष्टं हहा जगत् ॥ १९ ॥

हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशांत्यै कृतापि हि ।
कुलाचारधियाप्येषा कृता कुलविनाशिनी ॥ ३२९ ॥

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्तिं मनुरब्रवीत् ॥ २६५ ॥

उलूककाकमार्जारगृध्रशंबरशूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च जायंते रात्रिभोजनात् ॥ ३२६ ॥ "

ये चारों पद्य श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित 'योगशास्त्र' से लिये हुए मालूम होते हैं। इनमेंसे शुरूके दो पद्य योगशास्त्रके दूसरे प्रकाशमें (अध्याय) क्रमशः नं० १४-२९ पर और शेष दोनों पद्य, तीसरे प्रकाशमें नं० २६ और ६७ पर दर्ज हैं। तीसरे पद्यके पहले तीन चरणोंमें मनुस्मृतिके वचनका उल्लेख है।

घ--विवेकविलास (श्वे० ग्रंथ) से।

{" आरभ्यैकांगुलाद्बिम्बाद्यावदेकादशांगुलं। (उत्तरार्ध) १०३॥
गृहे संपूजयेद्बिम्बमूर्ध्वं प्रासादगं पुनः ।

{प्रतिमा काष्ठलेपाश्मस्वर्णरूप्यायसां गृहे ॥ १०४ ॥
मानाधिकपरिवाररहिता नैव पूजेयत् । (पूर्वार्ध) ॥ १०५ ॥

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकं ।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥ १०७ ॥

---

* १ विवेकविलासमें 'स्वर्णरूप्यायसां' की जगह 'दन्तचित्रायसां' पाठ दिया है।

अतीताब्दशतं यत्स्यात् यच्च स्थापितमुत्तमैः ।
तद्व्यंगमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न हि ॥ १०८ ॥ ”

ये सब पद्य जिनदत्त सूरिकृत ‘ विवेकविलास ’ के प्रथम उल्लासमें क्रमशः नं. १४४, १४५, १७८ और १४० पर दर्ज हैं और प्रायः वहींसे उठाकर यहां रक्खे गये मालूम होते हैं । ऊपर जिन उत्तरार्ध और पूर्वार्धोंको मिलाकर दो कोष्टक दिये गये हैं, विवेकविलासमें ये दोनों श्लोक इसी प्रकार स्वतंत्र रूपसे नं. १४४ और १४५ पर लिखे हैं। अर्थात् उत्तरार्धको पूर्वार्ध और पूर्वार्धको उत्तरार्ध लिखा है । उमास्वामिश्रावकाचारमें उपर्युक्त श्लोक नं. १०३ का पूर्वार्ध और श्लोक नं. १०५ का उत्तरार्ध इस प्रकारसे दिया है:—

“ नवांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडांगुले (पूर्वार्ध)१०३॥”
“काष्ठलेपायसां भूताः प्रतिमाः साम्प्रतं न हि (उत्तरार्ध)१०५॥”

श्लोक नं. १०५ के इस उत्तरार्धसे मालूम होता है कि उमास्वामिश्रावकाचारके रचयिताने विवेकविलासके समान काष्ठ, लेप और लोहेकी प्रतिमाओंका श्लोक नं. १०४ में विधान करके फिर उनका निषेध इन शब्दोंमें किया है कि **आजकल ये काष्ठ, लेप और लोहेकी प्रतिमायें पूजनके योग्य नहीं हैं** । इसका कारण अगले श्लोकमें यह बतलाया है कि ये वस्तुयें यथोक्त नहीं मिलतीं और जीवोत्पत्ति आदि बहुतसे दोषोंकी संभावना रहती है । यथा:—

“ योग्यस्तेषां यथोक्तानां लाभस्यापित्वभावतः ।
जीवोत्पत्त्यादयो दोषा बहवः संभवंति च ॥ १०६ ॥ ”

ग्रंथकर्त्ताका यह हेतु भी विद्वज्जनोंके ध्यान देने योग्य है ।

ङ—धर्मसंग्रहश्रावकाचारसे ।

" माल्यधूपप्रदीपाद्यैः सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम् ।
सावद्यसंभवाद्वक्ति यः स एवं प्रबोध्यते ॥ १३७ ॥
जिनार्चानेकजन्मोत्थं किल्बिषं हन्ति या कृता ।
सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमंगिनाम् ॥ १३८ ॥
प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः ।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा ॥ १३९ ॥
भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमंगिनाम् ।
जीवनाय मरीचादिसदौषधविमिश्रितम् ॥ १४० ॥
तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारंभः पापकृद्भवेत् ।
धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा ॥ १४१ ॥"

ये पाचों पद्य पं० मेधावीकृत 'धर्मसंग्रहश्रावकाचारके' ९ वें अधिकारमें नम्बर ७२ से ७६ तक दर्ज हैं । वहींसे लिये हुए मालूम होते हैं ।

च—अन्यग्रंथोंके पद्य ।

" नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधःस्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ २६४ ॥
आसन्नभव्यता कर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योप्युपदेशकादिश्च ॥ २३ ॥
संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती ।
वात्सल्यं त्वनुकम्पा चाष्टगुणाः सन्ति सम्यक्त्वे ॥ ७० ॥ "

इन तीनों पद्योंमेंसे पहला पद्य मनुस्मृतिके पांचवें अध्यायका ४८ वाँ पद्य है । योगशास्त्रमें श्रीहेमचन्द्राचार्यने इसे, तीसरे प्रकाश में, उद्धृत

किया है और मनुका लिखा है। इसीलिए या तो यह पद्य सीधा 'मनुस्मृति' से लिया गया है या अन्य पद्योंकी समान योगशास्त्रसे ही उठाकर रक्खा गया है। दूसरा पद्य यशस्तिलकके छट्ठे आश्वासमें और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके चौथे अधिकारमें 'उक्तं च' रूपसे लिखा है। यह किसी दूसरे ग्रंथका पद्य है—इसकी टकसाल भी अलग है—इसलिए ग्रंथकर्त्ताने या तो इसे सीधा उस दूसरे ग्रंथसे ही उठाकर रक्खा है और या उक्त दोनों ग्रंथोंमेंसे किसी ग्रंथसे लिया है। तीसरा पद्य 'वसुनन्दिश्रावकाचार' की निम्नलिखित प्राकृत गाथाकी संस्कृत छाया है:—

" संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४९ ॥

इस गाथाका उल्लेख 'पंचाध्यायी' में भी, पृष्ठ १३३ पर, 'उक्तं च' रूपसे पाया जाता है। इसलिए यह तीसरा पद्य या तो वसुनन्दिश्रावकाचारकी टीकासे लिया गया है, या इस गाथापरसे उल्था किया गया है।

(२) अब, उदाहरणके तौरपर, कुछ परिवर्तित पद्य, उन पद्योंके साथ जिनको परिवर्त्तन करके वे बनाये गये मालूम होते हैं, नीचे प्रगट किये जाते हैं। इन्हें देखकर परिवर्त्तनादिकका अच्छा अनुभव हो सकता है। इन पद्योंका परस्पर शब्दसौष्ठव और अर्थगौरवादि सभी विषय विद्वानोंके ध्यान देने योग्य हैं:—

१—स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ १३ ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचारः।

स्वभावादशुचौ देहे रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्घृणा च गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ ४१ ॥

—उमास्वामिश्राव०।

२—ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥
—रत्नकरंड श्रा० ।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं गतदर्पा मदं विदुः ॥ ८५ ॥
—उमा० श्रा० ।

३—दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥
—रत्नकरण्ड० श्रा० ।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाद्भ्रष्टस्य जन्मिनः ।
प्रत्यवस्थापनं तज्ज्ञाः स्थितीकरणमूचिरे ॥ ५८ ॥
—उमा० श्रा० ।

४—स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥
—रत्नकरण्ड० श्रा० ।

* साधूनां साधुवृत्तीनां सागाराणां सधर्मिणाम् ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं तज्ज्ञैर्वात्सल्यमुच्यते ॥ ६३ ॥
*   *   *   —उमा० श्रा० ।

५—सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानंतरं तस्मात् ॥ ३३ ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः ।

---

* यह पूर्वार्ध 'स्वयूथ्यान्प्रति' इस इतनेही पदका अर्थ मालूम होता है। शेष 'सद्भावसनाथा..' इत्यादि गौरवान्वित पदका इसमें भाव भी नहीं आया।

सम्यग्ज्ञानं मतं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं यतः।
ज्ञानस्याराधनं प्रोक्तं सम्यक्त्वानंतरं ततः॥ २४७॥
—उमा० श्रा०।

६—हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥ १०८॥
—पुरुषार्थसि०।

तिलनाल्यां तिला यद्वत् हिंस्यन्ते बहवस्तथा।
जीवा योनौ च हिंस्यन्ते मैथुने निंद्यकर्मणि॥ ३७०॥
—उमा० श्रा०।

* * * * * *

७—मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च, दुर्गतेः।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत्॥
—यशस्तिलक।

मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद्भवापदाम्।
मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत्॥ २६१॥
—उमा० श्रा०।

८—मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेतिदृग्दोषाः पंचविंशतिः॥ ८०॥
—यशस्तिलक।

मूढत्रिकं चाष्टमदास्तथानायतनानि षट्।
शंकादयस्तथा चाष्टौ कुदोषाः पंचविंशतिः॥ ८०॥
—उमा० श्रा०।

* * * * * *

९—साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परं॥ २–५८॥
—अमितगत्युपासकाचारः।

साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमीरितम्।
साधनं द्वितयं साध्यं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥ २७ ॥
—उमा० श्रा०।

* * * * * *

१०—हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा।
क्रेतानुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥ ३-२० ॥
—योगशास्त्र।

हन्ता दाता च संस्कर्त्तानुमन्ता भक्षकस्तथा।
क्रेता पलस्य विक्रेता यः स दुर्गतिभाजनं ॥ २६३ ॥
—उमा० श्रा०।

११—स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रति चिकीर्षति।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति ॥ २-८२ ॥
—योगशास्त्र।

मैथुनेन स्मराग्निं यो विध्यापयितुमिच्छति।
सर्पिषा स ज्वरं मूढः प्रौढं प्रति चिकीर्षति ॥ ३७१ ॥
—उमा० श्रा०।

१२—कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥ २-७९ ॥
—योगशास्त्र।

स्वेदो भ्रान्तिः श्रमो ग्लानिर्मूर्च्छा कम्पो बलक्षयः।
मैथुनोत्था भवन्त्येते व्याधयोप्याधयस्तथा ॥ ३६८ ॥
—उमा. श्रा.।

---

१ इसके आगे 'मनुस्मृति'के प्रमाण दिये हैं; जिनमेंसे एक प्रमाण "नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा......" इत्यादि ऊपर उद्धृत किया गया है।

१३-रजनीभोजनत्यागे ये गुणाः परितोपि तान्।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः॥ ३-७०॥
—योगशास्त्र।

रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य ये गुणाः खलु जन्मिनः।
सर्वज्ञमन्तरेणान्यो न सम्यग्वक्तुमीश्वरः॥ ३२७॥
—उमास्वा० श्रा०।

योगशास्त्रके तीसरे प्रकाशमें, श्रीहेमचंद्राचार्यने १५ मलीन कर्मादानोंके त्यागनेका उपदेश दिया है। जिनमें पांच जीविका, पांच वाणिज्य और पांच अन्य कर्म हैं। इनके नाम दो श्लोकों (नं.९९-१००) में इस प्रकार दिये हैं:—

१ अंगारजीविका, २ वनजीविका, ३ शकटजीविका, ४ भाटकजीविका, ५ स्फोटकजीविका, ६ दन्तवाणिज्य, ७ लाक्षावाणिज्य, ८ रसवाणिज्य, ९ केशवाणिज्य, १० विषवाणिज्य ११ यंत्रपीडा, १२ निर्लांछन, १३ असतीपोषण, १३ दवदान और १५ सरःशोष। इसके पश्चात् (श्लोक नं० ११३ तक) इन १४ कर्मादानोंका पृथक् पृथक् स्वरूप वर्णन किया है। जिसका कुछ नमूना इस प्रकार है:—

"अंगारभ्राष्ट्राकरणांकुंभायःस्वर्णकारिता।
ठठारत्वेष्टकापाकाविती ह्यंगारजीविका॥ १०१॥
नवनीतवसाक्षौद्रमद्यप्रभृतिविक्रयः।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रेयो वाणिज्यं रसकेशयोः॥ १०८॥
नासावेधोङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनं।
कर्णकम्बलविच्छेदो निर्लांछनमुदीरितं॥ १११॥
सारिकाशुकमार्जारश्वकुर्कुटकलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः॥ ११२॥
—योगशास्त्र।

इन १५ कर्मादानोंके स्वरूपकथनमें जिन जिन कर्मोंका निषेध किया गया है, प्राय: उन सभी कर्मोंका निषेध उमास्वामिश्रावकाचारमें भी श्लोक नं. ४०३ से ४१२ तक पाया जाता है। परन्तु १४ कर्मादान त्याज्य हैं; वे कौन कौनसे हैं और उनका पृथक् पृथक् स्वरूप क्या है; इत्यादि वर्णन कुछ भी नहीं मिलता। योगशास्त्रके उपर्युक्त चारों श्लोकोंसे मिलते जुलते उमास्वामिश्रावकाचारमें निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं; जिनसे मालूम हो सकता है कि इन पद्योंमें कितना और किस प्रकारका परिवर्तन किया गया है:—

" अंगारभ्राष्ट्रकरणमयःस्वर्णादिकारिता।
इष्टकापाचनं चेति त्यक्तव्यं मुक्तिकांक्षिभिः॥ ४०४॥
नवनीतवसामद्यमध्वादीनां च विक्रयः।
द्विपाचतुष्पाद्विक्रेयो न हिताय मतः क्वचित्॥ ४०६॥
कंटनं नासिकावेधो मुष्कच्छेदोंघ्रिभेदनम्।
कर्णापनयनं नामनिर्लांछनमुदीरितम्॥ ४११॥
केकीकुक्कटमार्जारसारिकाशुकमंडलाः।
पोष्यंते न कृतप्राणिघाताः पारावता अपि॥ ४०३॥

—उमा० श्रा०।

भगवदुमास्वामिके तत्त्वार्थसूत्रपर 'गंधहस्ति' नामका महाभाष्य रचनेवाले और रत्नकरंडश्रावकाचारादि ग्रन्थोंके प्रणेता विद्वच्छिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्यका अस्तित्व विक्रमकी दूसरी शताब्दिके लगभग माना जाता है; पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रंथोंके रचयिता श्रीमदमृतचंद्रसूरिने विक्रमकी १० वीं शताब्दिमें अपने अस्तित्वसे इस पृथ्वी-

१ 'निर्लांछन' का जब इससे पहले इस श्रावकाचारमें कहीं नामनिर्देश नहीं किया गया, तब फिर यह लक्षणनिर्देश कैसा?

तलको सुशोभित किया ऐसा कहा जाता है; यशस्तिलकके निमार्णकर्त्ता श्रीसोमदेवसूरि विक्रमकी ११ वीं शताब्दिमें विद्यमान थे और उन्होंनें वि. सं. १०१६ (शक सं. ८८१) में यशस्तिलकको वनाकर समाप्त किया है; धर्मपरीक्षा तथा उपासकाचारादि ग्रंथोंके कर्ता श्रीअमितगत्याचार्य विक्रमकी ११ वीं शताब्दिमें हुए हैं; योगशास्त्रादि वहुतसे ग्रंथोंकी रचना करनेवाले श्वेतांवराचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरि राजा कुमारपालके समयमें अर्थात् विक्रमकी १३ वीं शताब्दिमें (सं. १२२९ तक) मौजूद थे; विवेकविलासके कर्ता श्वेतांवर साधु श्रीजिनदत्तसूरि वि. की १३ वीं शताब्दिमें हुए हैं; और पं. मेधावीका अस्तित्वसमय १६ वीं शताव्दी निश्चित है। आपने धर्मसंग्रह श्रावकाचारको विक्रम संवत् १५४१ में वनाकर पूरा किया है।

अव पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ (उमास्वामिश्रावकाचार), जिसमें वहुत पीछेसे होनेवाले इन उपर्युक्त विद्वानोंके ग्रंथोंसे पद्य लेकर उन्हें ज्योंका त्यों या परिवर्तित करके रक्खा है, कैसे सूत्रकार भगवदुमास्वामिका वनाया हुआ हो सकता है ? सूत्रकार भगवान् उमास्वामिकी असाधारण योग्यता और उस समयकी परिस्थितिको, जिस समयमें कि उनका अवतरण हुआ है, सामने रखकर परिवर्तित पद्यों तथा ग्रंथके अन्य स्वतंत्र वने हुए पद्योंका सम्यगवलोकन करनेसे साफ मालूम होता है कि यह ग्रंथ उक्त सूत्रकार भगवान्का वनाया हुआ नहीं है। वल्कि उनसे दशों शताव्दी पीछेका वना हुआ है।

विरुद्धकथन ।

इस ग्रंथके एक पद्यमें व्रतके, सकल और विकल ऐसे, दो भेदोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि सकल व्रतके १३ भेद और विकल व्रतके १२ भेद हैं। वह पद्य इस प्रकार है:—

" सकलं विकलं प्रोक्तं द्विभेदं व्रतमुत्तमं ।
सकलस्य त्रिदश भेदा विकलस्य च द्वादश ॥ २५९ ॥

परन्तु सकल व्रतके वे १३ भेद कौनसे हैं ? यह कहींपर इस शास्त्रमें प्रगट नहीं किया । तत्त्वार्थसूत्रमें सकलव्रत अर्थात् महाव्रतके पांच भेद वर्णन किये हैं । जैसा कि निम्नलिखित दो सूत्रोंसे प्रगट है:-

" हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ ७-१ ॥
" देशसर्वतोऽणुमहती " ॥ ७-२ ॥

संभव है कि पंचसमिति और तीन गुप्तिको शामिल करके तेरह प्रकारका सकलव्रत ग्रंथकर्त्ताके ध्यानमें रहा हो । परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें, जो भगवान् उमास्वामिका सर्वमान्य ग्रंथ है, इन पंचसमिति और तीन गुप्तियोंको व्रतसंज्ञामें दाखिल नहीं किया है । विकलव्रतकी संख्या जो बारह लिखी है, वह ठीक है और यही सर्वत्र प्रसिद्ध है । तत्त्वार्थसूत्रमें भी १२ व्रतोंका वर्णन है, जैसा कि उपर्युक्त दोनों सूत्रोंको निम्नलिखित सूत्रोंके साथ पढ़नेसे ज्ञात होता है:-

" अणुव्रतोऽगारी " ॥ ७-२० ॥
" दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च " ॥ ७-२१ ॥

इस श्रावकाचारके श्लोक नं. ३२८* में भी इन गृहस्थोचित व्रतोंके पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे, बारह भेद वर्णन किये हैं । परंतु इसी ग्रंथके दूसरे पद्यमें ऐसा लिखा है कि-

---

* " अणुव्रतानि पंच स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि सागाराणां जिनागमे " ॥ ३२८ ॥

" एवं व्रतं मया प्रोक्तं त्रयोदशविधायुतम्।
निरतिचारकं पाल्यं तेऽतीचारास्तु सप्ततिः॥ ४६१॥

अर्थात्–मैंने यह तेरह प्रकारका व्रत वर्णन किया है, जिसको अतीचारोंसे रहित पालना चाहिए और वे (व्रतोंके) अतीचार, संख्यामें ७० हैं।

यहांपर व्रतोंकी यह १३ संख्या ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं. २५९ और ३२८ से तथा तत्त्वार्थसूत्रके कथनसे विरुद्ध पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्रमें ' सल्लेखना ' को व्रतोंसे अलग वर्णन किया है। इस लिये सल्लेखनाको शामिल करके यह तेरहकी संख्या पूरी नहीं की जासकती।

व्रतोंके अतीचार भी तत्त्वार्थसूत्रमें ६० ही वर्णन किये हैं। यदि सल्लेखनाको व्रतोंमें मानकर उसके पांच अतीचार भी शामिल कर लिये जावें तब भी ६५ (१३×५) ही अतीचार होंगे। परन्तु यहांपर व्रतोंके अतीचारोंकी संख्या ७० लिखी है, यह एक आश्चर्यकी वात है। सूत्रकार भगवान् उमास्वामिके वचन इस प्रकार परस्पर या पूर्वापर विरोधको लिये हुए नहीं हो सकते। इसी प्रकारका परस्परविरुद्ध कथन और भी कई स्थानोंपर पाया जाता है। एक स्थानपर शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हुए लिखा है:—

" स्वशक्त्या क्रियते यत्र संख्याभोगोपभोगयोः।
भोगोपभोगसंख्याख्यं तत्तृतीयं गुणव्रतम्॥ ४३०॥ "

इस पद्यसे यह साफ प्रगट होता है कि ग्रंथकर्ताने, तत्त्वार्थसूत्रके विरुद्ध, भोगोपभोग परिमाण व्रतको, शिक्षाव्रतके स्थानमें तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है। परन्तु इससे पहले खुद ग्रंथकर्त्ताने ' अनर्थदण्डविरति ' को ही तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है। और वहां दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरति, ऐसे तीनो गुणव्रतोंको कथन किया है। गुणव्रतों-

-का कथन समाप्त करनेके बाद ग्रंथकार इससे पहले आद्यके दो शिक्षाव्रतों (सामायिक-प्रोपधोधपवास) का स्वरूप भी दे चुके हैं। अब यह तीसरे शिक्षाव्रतके स्वरूपकथनका नम्बर था, जिसको आप ' गुणव्रत ' लिख गये ! कई आचार्योंने भोगोपभोगपरिमाण व्रतको गुणव्रतोंमें माना है। मालूम होता है कि यह पद्य किसी ऐसे ही ग्रंथसे लिया गया है, जिसमें भोगोपभोगपरिमाण व्रतको तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है और ग्रन्थकार इसमें शिक्षाव्रतका परिवर्तन करना भूल गये अथवा उन्हें इस बातका स्मरण नहीं रहा कि हम शिक्षाव्रतका वर्णन कर रहे हैं। योगशास्त्रमें भोगोपभोगपरिणामव्रतको दूसरा गुणव्रत वर्णन किया है और उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है-

भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते ।
भोगोपभोगमानं तद्द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ॥ ३-४ ॥

यह पद्य ऊपरके पद्यसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। संभव है कि इसीपरसे ऊपरका पद्य बनाया गया हो और ' गुणव्रतम् ' इस पदका परिवर्तन करना रह गया हो ।

इस ग्रंथके एक पद्यमें ' लोंच ' का कारण भी वर्णन किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है:—

" अदैन्यवैराग्यकृते कृतोऽयं केशलोचकः ।
यतीश्वराणां वीरत्वं व्रतनैर्मल्यदीपकः ॥ ५० ॥

इस पद्यका ग्रन्थमें पूर्वोत्तरके किसी भी पद्यसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। न कहीं इससे पहले लोंचका कोई जिकर आया और न ग्रन्थमें इसका कोई प्रसंग है। ऐसा असम्बन्ध और अप्रासंगिक कथन उमास्वामी महाराजका नहीं हो सकता। ग्रन्थकर्त्ताने कहाँपरसे यह मजमून लिया है और किस प्रकारसे इस पद्यको यहाँ देनेमें गलती खाई है, ये सब बातें ज़रूरत होनेपर, फिर कभी प्रगट की जायँगी ।

इन सब बातोंके सिवा इस ग्रंथमें, अनेक स्थानोंपर, ऐसा कथन भी पाया जाता है जो युक्ति और आगमसे बिलकुल विरुद्ध जान पड़ता है और इस लिये उससे और भी ज्यादह इस बातका समर्थन होता है कि यह ग्रंथ भगवान् उमास्वामिका बनाया हुआ नहीं है। ऐसे कथनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

(१) ग्रंथकार महाशय, एक स्थानपर, लिखते हैं कि जिस मंदिरपर ध्वजा नहीं है, उस मंदिरमें किये हुए पूजन, होम और जपादिक सब ही विलुप्त हो जाते हैं अर्थात् उनका कुछ भी फल नहीं होता। यथा:—

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकं।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥ १०७ ॥

इसी प्रकार दूसरे स्थानपर लिखते हैं कि जो मनुष्य फटे पुराने, खंडित या मैले वस्त्रोंको पहिनकर दान, पूजन, तप, होम या स्वाध्याय करता है तो उसका ऐसा करना निष्फल होता है। यथा:—

" खंडिते गलिते छिन्ने मलिने चैव वाससि।
दानं पूजा तपो होमः स्वाध्यायो विफलं भवेत् ॥ १३६ ॥

मालूम नहीं होता कि मंदिरके ऊपरकी ध्वजाका इस पूजनादिकके फलके साथ कौनसा सम्बंध है और जैनमतके किस गूढ़ सिद्धान्तपर ग्रंथकारका यह कथन अवलम्बित है। इसी प्रकार यह भी मालूम नहीं होता कि फटे पुराने तथा खंडित वस्त्रोंका दान, पूजन, तप और स्वाध्यायादिके फलसे कौनसा विरोध है जिसके कारण इन कार्योंका करना ही निरर्थक हो जाता है। भगवदुमास्वामिने तत्त्वार्थसूत्रमें और **श्रीअलंकदेवादिक** टीकाकारोंने 'राजवार्तिक' आदि ग्रंथोंमें शुभाशुभ कर्मोंके आस्रव और बन्धके कारणोंका विस्तारके साथ वर्णन किया है। परन्तु ऐसा कथन कहीं नहीं पाया जाता, जिससे यह मालूम होता हो कि मंदिरकी एक

ध्वजा भी भावपूर्वक किये हुए पूजनादिकके फलको उलटपुलट कर-देनेमें समर्थ है। सच पूछिये तो मनुष्यके कर्मोंका फल उसके भावोंकी जाति और उनकी तरतमतापर निर्भर है। एक गरीब आदमी अपने फटे पुराने कपड़ोंको पहिने हुए ऐसे मंदिरमें जिसके शिखरपर ध्वजा भी नहीं है, वड़े प्रेमके साथ परमात्माका पूजन और भजन कर रहा है और सिरसे पैरतक भक्तिरसमें डूब रहा है, वह उस मनुष्यसे अधिक पुण्य उपार्जन करता है जो अच्छे सुन्दर नवीन वस्त्रोंको पहिने हुए ध्वजावले मन्दिरमें विना भक्ति भावके, सिर्फ अपने कुलकी रीति समझता हुआ, पूजनादिक करता हो। यदि ऐसा नहीं माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि फटे पुराने वस्त्रोंके पहिनने या मन्दिरपर ध्वजा न होनेके कारण उस गरीब आदमीके उन भक्ति भावोंका कुछ भी फल नहीं है तो **जैनियोंको अपनी कर्म फिलासोफीको उठाकर रख देना होगा**। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये इन दोनों पद्योंका कथन युक्ति और आगमसे विरुद्ध है। इनमेंसे पहला पद्य श्वेताम्बरोंके 'विवेकविलास' का पद्य है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है।

(२) इस ग्रंथके पूजनाध्यायमें, पुष्पमालाओंसे पूजनका विधान करते हुए, एक स्थानपर लिखा है कि चम्पक और कमलके फूलका' उसकी कली आदिको तोड़नेके द्वारा, भेद करनेसे मुनिहत्याके समान पाप लगता है। यथा:—

" नैव पुष्पं द्विधाकुर्यान्न छिंद्यात्कलिकामपि।
चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्यासमं फलम् ॥ १२७॥"

यह कथन बिलकुल जैनसिद्धान्त और जैनागमके विरुद्ध है। कहाँ तो एकेंद्रियफूलकी पँखड़ी आदिका तोड़ना और कहाँ मुनिकी हत्या! दोनोंका पाप कदापि समान नहीं हो सकता। जैनशास्त्रोंमें एकेंद्रिय जीवोंके घातसे लेकर पंचेंद्रिय जीवोंके घातपर्यंत और फिर पंचेंद्रियजी-

वोंमें भी क्रमशः गौ, स्त्री, वालक, सामान्य मनुष्य, अविरतसम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक और मुनिके घातसे उत्पन्न हुई पापकी मात्रा उत्तरोत्तर अधिक वर्णन की है। और इसीलिये **प्रायश्चित्तसमुच्चयादि** प्रायश्चित्तग्रंथोंमें भी इसी क्रमसे हिंसाका उत्तरोत्तर अधिक दंड विधान कहा गया है। कर्मप्रकृतियोंके वन्धाधिकका प्ररूपण करनेवाले और '**तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः**' इत्यादि सूत्रोंके द्वारा कर्मास्रवोंकी न्यूनाधिकता दर्शानेवाले सूत्रकार महोदयका ऐसा असमंजस वचन, कि एक फूलकी पंखडी तोड़नेका पाप मुनिहत्याके समान है, कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकारके और भी वहुतसे असमंजस और आगमविरुद्ध कथन इस ग्रंथमें पाए जाते हैं, जिन्हें इस समय छोड़ा जाता है। जरूरत होनेपर फिर कभी प्रगट किये जायँगे।

जहांतक मैंने इस ग्रंथकी परीक्षा की है, मुझे ऐसा निश्चय होता है और इसमें कोई संदेह वाकी नहीं रहता कि **यह ग्रंथ सूत्रकार भगवान् उमास्वामि महाराजका वनाया हुआ नहीं है। और न किसी दूसरेही माननीय जैनाचार्यका वनाया हुआ है।** ग्रंथके शब्दों और अर्थोंपरसे, इस ग्रंथका वनानेवाला कोई मामूली, अदूरदर्शी और क्षुद्रहृदय व्यक्ति मालूम होता है। और यह ग्रंथ १६ वीं शताब्दीके वाद १७ वीं शताब्दीके अन्तमें या उससे भी कुछ कालवाद, उस वक्त वनाया जाकर भगवान् उमास्वामीके नामसे प्रगट किया गया है, जब कि तेरहपंथकी स्थापना हो चुकी थी और उसका प्रावल्य बढ़ रहा था। यह ग्रंथ क्यों वनाया गया है? इसका सूक्ष्म विवेचन फिर किसी लेखद्वारा, जरूरत होनेपर, प्रगट किया जायगा। परन्तु यहाँपर इतना वतला देना जरूरी है कि इस ग्रंथमें पूजनका एक खास अध्याय है और प्रायः उसी अध्यायकी इस ग्रंथमें प्रधानता मालूम होती है। शायद इसी-

लिये हलायुधजीने, अपनी भाषाटीकाके अन्तमें, इस श्रावकाचारको " पूजाप्रकरण नाम श्रावकाचार " लिखा है।

अन्तमें विद्वज्जनोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि वे इस ग्रंथकी अच्छी तरहसे परीक्षा करके मेरे इस उपर्युक्त कथनकी जाँच करें और इस विषयमें उनकी जो सम्मति स्थिर होवे उससे, कृपाकर मुझे सूचित करनेकी उदारता दिखलाएँ। यदि परीक्षासे उन्हें भी यह ग्रंथ सूत्रकार भगवान् उमास्वामिका बनाया हुआ साबित न होवे, तब उन्हें अपने उस परीक्षाफलको सर्वसाधारणपर प्रगट करना चाहिए। और इस तरहपर अपने साधारण भाइयोंका भ्रम निवारण करते हुए प्राचीन आचार्योंकी उस कीर्तिको संरक्षित रखनेमें सहायक होना चाहिये, जिसको कषायवश किसी समय कलंकित करनेका प्रयत्न किया गया है।

आशा है कि विद्वज्जन मेरे इस निवेदनपर अवश्य ध्यान देंगे और अपने कर्त्तव्यका पालन करेंगे। इत्यलं विज्ञेषु।

कुन्दकुन्द-श्रावकाचार ।

जैनियोंको भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका परिचय देनेकी जरूरत नहीं है । तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता श्रीमदुमास्वामी जैसे विद्वानाचार्य जिनके शिष्य कहे जाते हैं, उन श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके पवित्र नामसे जैनियोंका बच्चा बच्चातक परिचित है । प्रायः सभी नगर और ग्रामोंमें जैनियोंकी शास्त्रसभा होती है और उस सभामें सबसे पहले एक बृहत् मंगलाचरण (ॐकार) पढ़ा जाता है, जिसमें 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यः' इस पदके द्वारा आचार्य महोदयके शुभ नामका बराबर स्मरण किया जाता है। सच पूछिए तो जैनसमाजमें, भगवान् कुन्दकुन्दस्वामी एक बड़े भारी नेता, अनुभवी विद्वान् और माननीय आचार्य हो गये हैं । उनका अस्तित्व विक्रमकी पहली शताब्दीके लगभग माना जाता है । भगवत्कुंदकुंदाचार्यका सिक्का जैनसमाजके हृदय पर यहाँतक अंकित है कि बहुतसे ग्रंथकारोंने और ख़ासकर भट्टारकोंने अपने आपको आपके ही वंशज प्रगट करनेमें अपना सौभाग्य और गौरव समझा है । बल्कि यों कहिए कि बहुतसे लोगोंको समाजमें काम करने और अपना उद्देश्य फैलानेके लिए आपके पवित्र नामका आश्रय लेना पड़ा है । इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैनियोंमें श्रीकुन्दकुन्द कैसे प्रभावशाली महात्मा हो चुके हैं । भगवत्कुंदकुंदाचार्यने अपने जीवनकालमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका प्रणयन किया है । और उनके ग्रंथ, जैनसमाजमें बड़ी ही पूज्यदृष्टिसे देखे जाते हैं । **समयसार, प्रवचनसार** और **पंचास्तिकाय** आदि ग्रंथ उन्हीं ग्रंथोंमेंसे हैं, जिनका जैनसमाजमें सर्वत्र प्रचार है । आज इस लेखद्वारा जिस ग्रंथकी परीक्षा की जाती है। उसके साथ भी श्रीकुंदकुंदाचार्यका नाम लगा हुआ है । यद्यपि इस ग्रंथका, समयसारादि ग्रंथोंके समान, जैनियोंमें सर्वत्र प्रचार नहीं है तो भी यह ग्रंथ जयपुर, बम्बई और महासभाके सरस्वती भंडार आदि अनेक भंडारोंमें पाया जाता है ।

कहा जाता है कि यह ग्रंथ (श्रावकाचार) भी उन्हीं भगवत्कुंदकुंदाचार्यका बनाया हुआ हैं जोश्रीजिनचंद्राचार्यके शिष्य माने जाते हैं। और न सिर्फ कहा ही जाता है, वल्कि खुद इस श्रावकाचारकी अनेक संधियोंमें यह प्रकट किया गया है कि यह ग्रंथ श्रीजिनचंद्राचार्यके शिष्य कुंदकुंदस्वामीका बनाया हुआ है। साथ ही ग्रंथके मंगलाचरणमें 'वन्दे जिनविधुं गुरुम्' इस पदके द्वारा ग्रंथकर्त्ताने 'जिनचंद्र' गुरुको नमस्कार करके और भी ज्यादह इस कथनकी रजिस्टरी कर दी है। परन्तु जिस समय इस ग्रंथके साहित्यकी जाँच की जाती है, उस समय ग्रंथके शब्दों और अर्थोंपरसे कुछ और ही मामला मालूम होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें *श्रीजिनदत्तसूरि* नामके एक आचार्य विक्रमकी १३वीं शताब्दीमें हो गये हैं। उनका बनाया हुआ 'विवेक-विलास' नामका एक ग्रंथ है। सम्वत् १९५४ में यह ग्रंथ अहमदाबादमें गुजराती भाषाटीकासहित छपा था। और इस समय भी वम्बई आदि स्थानोंसे प्राप्त होता है। इस 'विवेकविलास' और कुंदकुंदश्रावकाचार दोनों ग्रंथोंका मिलान करनेसे मालूम होता है कि, ये दोनों ग्रंथ वास्तवमें एक ही हैं। और यह एकता इनमें यहाँतक पाई जाती है कि, दोनोंका विषय और विषयके प्रतिपादक श्लोकही एक नहीं, वल्कि दोनोंकी उल्लाससंख्या, आदिम मंगलाचरण*और अन्तिम काव्य+भी एक ही है। कहनेके लिए दोनों ग्रंथोंमें

*दोनों ग्रंथोंका आदिम मंगलाचरणः—

" शाश्वतानन्दरूपाय तमस्तोमैकभास्वते।
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने ॥ १ ॥

(इसके सिवाय मंगलाचरणके दो पद्य और हैं।)

+दोनों ग्रंथोंका अन्तिम काव्यः—

" स श्रेष्ठः पुरुषाग्रणीः स सुभटोत्तंसः प्रशंसास्पदम्,
स प्राज्ञः स कलानिधिः स च मुनिः स क्ष्मातले योगवित्।
स ज्ञानी स गुणिव्रजस्य तिलकं जानाति यः स्वां मृतिम्,
निर्मोहः समुपार्जयत्यथ पदं लोकोत्तरम् शाश्वतम् ॥ १२-१२ ॥..."

सिर्फ २०–३० श्लोकोंका परस्पर हेरफेर है। और यह हेरफेर भी पहले दूसरे, तीसरे, पाँचवें और आठवें उल्लासमें ही पाया जाता है। बाकी उल्लास (नं. ४, ६, ७, ९, १०, ११, १२) बिलकुल ज्योंके त्यों एक दूसरेकी प्रतिलिपि (नकल) मालूम होते हैं। प्रशस्तिको छोड़कर विवेकविलासकी पद्यसंख्या १३२१ और कुंदकुंदश्रावकाचारकी १२९४ है। विवेकविलासमें अन्तिम काव्यके बाद १० पद्योंकी एक 'प्रशस्ति' लगी हुई है, जिसमें जिनदत्तसूरिकी गुरुपरम्परा आदिका वर्णन है। परन्तु कुंदकुंदश्रावकाचारके अन्तमें ऐसी कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती है। दोनों ग्रंथोंके किस किस उल्लासमें कितने और कौनकौनसे पद्य एक दूसरेसे अधिक हैं, इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

नं० उल्लास	उन पद्योंके नम्बर जो कुंदकुंदश्रा. में अधिक हैं।	उन पद्योंके नम्बर जो विवेक विलासमें अधिक हैं।	कैफियत (Remarks)
१	६३ से ६९ तक और ७० का पूर्वार्ध; (७½ श्लोक)	८४ से ९८ तक (१४ श्लोक)	कुंदकुंद श्रा० के ये ७½ श्लोक दंतधावन प्रकरणके हैं। यह प्रकरण दोनों ग्रंथोंमें पहलेसे शुरू हुआ और बादको भी रहा है। किस किस काष्ठकी दतौन करनेसे क्या लाभ होता है, किस प्रकारसे दन्तधावन करना निषिद्ध है और किस वर्णके मनुष्यको कितने अंगुलकी दतौन व्यवहारमें लानी चाहिए; यही सब इन पद्योंमें वर्णित है। विवेकविलासके ये १४ श्लोक पूजनप्रकरणके हैं। और किस समय, कैसे द्रव्योंसे किस प्रकार पूजन करना चाहिए; इत्यादि वर्णनको लिए हुए हैं.

२	३३, ३४; (२ श्लोक)	३९ (१ श्लोक)	कुंदकुंद श्रा० के दोनों श्लोकोंमें मूषकादिकके द्वारा किसी वस्तुके कटेफटे होनेपर छेदाकृतिसे शुभाशुभ जाननेका कथन है। यह कथन कई श्लोक पहलेसे चल रहा है। विवेकविलासका श्लोक नं. ३९ ताम्बूल प्रकरणका है जो पहलेसे चल रहा है।
३	×	६० (१ श्लोक)	भोजन प्रकरणमें एक निमित्तसे आयु और धनका नाश मालूम करनेके सम्बन्धमें।
५	×	१०, ११, ५७, १४२, १४३, १४४, १४६, १८८ से १९२ तक (१२ श्लोक)	पद्य नं. १०—११ में सोते समय ताम्बूलादि कई वस्तुओंके त्यागका कारण-सहित उपदेश है; ५७ वाँ पद्य पुरुषपरीक्षामें हस्तरेखा सम्बंधी है। दोनों ग्रन्थोंमें इस परीक्षाके ७५ पद्य और हैं; १४२, १४३, १४४ में पद्मिनी आदि स्त्रियोंकी पहचान लिखी है। इनसे पूर्वके पद्यमें उनके नाम दिये हैं।१४६ में पतिप्रीति ही स्त्रियोंको कुमार्गसे रोकनेवाली है, इत्यादि-कथन है। शेष ५ पद्योंमें ऋतुकालके समय कौनसी रात्रिको गर्भ रहनेसे कैसी संतान उत्पन्न होती है, यह कथन पाँचवीं रात्रिसे १६. वीं रात्रिके सम्बंधमें है। इससे पहले चार रात्रियोंका कथन दोनों ग्रंथोंमें है।

८	२५३ (१ श्लोक)	४९, ६०, ६१, ७४, ८५, २५५, २९३ का उत्तरार्ध, ३४३ का उत्तरार्ध, ३४४ का पूर्वार्ध, ३६६ का उत्तरार्ध, ३६७ का पूर्वार्ध ४२० के अन्तिम तीन चरण और ४२१ का पहला चरण; (९½ श्लोक)	२५३ वाँ पद्य मीमांसक मतके प्रकरणका है। इसमें मीमांसक मतके देवताके निरूपण और प्रमाणोंके कथनकी प्रतिज्ञा है, अगले पद्यमें प्रमाणोंके नाम दिये हैं। और दर्शनोंके कथनमें भी देवताका वर्णन पाया जाता है। पद्य नं ४९ में अल्पत्रुटिका योग दिया है; ६० में किस किस महीनेमें मकान बनवानेसे क्या लाभ हानि होती है; ६१ में कौनसे नक्षत्रमें घर बनानेका सूत्रपात करना; ७४ में यक्षव्ययके अष्ट भेद, इससे पूर्वके पद्यमें यक्षव्यय अष्ट प्रकारका है ऐसा दोनों ग्रंथोंमें सूचित किया है, ८५ वाँ पद्य 'अपरं च' करके लिखा है; ये चारों पद्य गृहनिर्माण प्रकरणके हैं। २५५ वाँ पद्य जैनदर्शन प्रकरणका है। इसमें श्वेताम्बर साधुओंका स्वरूप दिया है। इससे अगले पद्यमें दिगम्बर साधुओंका स्वरूप है। २९३ वाँ पद्य शिवमतके प्रकरणका है। उत्तरार्धके न होनेसे साफ अधूरापन प्रगट है। क्योंकि पूर्वार्धमें नव द्रव्योंमेंसे चारके नित्यानित्यत्वका वर्णन है बाकीका वर्णन उत्तरार्धमें है। शेष पद्योंका वर्णन आगे दिया जायगा।

ऊपरके कोष्टकसे दोनों ग्रन्थोंमें पद्योंकी जिस न्यूनाधिकताका वोध होता है, बहुत संभव है कि वह लेखकोंकी कृपाहीका फल हो —जिस प्रतिपरसे विवेकविलास छपाया गया है और जिस प्रतिपरसे कुंदकुंदश्रावकाचार उतारा गया है, आश्चर्य नहीं कि उनमें या उनकी पूर्व प्रतियोंमें लेखकोंकी असावधानीसे ये सव पद्य छूट गये हों—क्योंकि पद्योंकी इस न्यूनाधिकतामें कोई तात्त्विक या सैद्धान्तिक विशेषता नहीं पाई जाती। वल्कि प्रकरण और प्रसंगको देखते हुए इन पद्योंमें छूट जानेका ही अधिक खयाल पैदा होता है। दोनों ग्रंथोंसे लेखकोंके प्रमादका भी अच्छा परिचय मिलता है। कई स्थानों पर कुछ श्लोक आगे पीछे पाये जाते हैं—विवेकविलासके तीसरे उल्लासमें जो पद्य नं. १७, १८ और ६२ पर दर्ज हैं वे ही पद्य कुंदकुंदश्रावकाचारमें क्रमशः नं० १८,१७ और ६० पर दर्ज हैं। आठवें उल्लासमें जो पद्य नं. ३१७-३१८ पर लिखे हैं वे ही पद्य कुंदकुंदश्रावकाचारमें क्रमशः नं: ३११-३१० पर पाये जाते हैं, अर्थात् पहला श्लोक पीछे और पीछे का पहले लिखा गया है। कुंदकुंदश्रावकाचारके तीसरे उल्लासमें श्लोक नं. १६ को 'उक्तं च' लिखा है और ऐसा लिखना ठीक भी है; क्योंकि यह पद्य दूसरे ग्रंथका है और इससे पहला पद्य नंबर १५ भी इसी अभिप्रायको लिये हुए है। परन्तु विवेकविलासमें इसे 'उक्तं च' नहीं लिखा। इसी प्रकार कहीं कहीं पर एक ग्रंथमें एक श्लोकका जो पूर्वार्ध है वही दूसरे ग्रंथमें किसी दूसरे श्लोकका उत्तरार्ध हो गया है। और कहीं कहीं एक श्लोकके पूर्वार्धको दूसरे श्लोकके उत्तरार्धसे मिलाकर एक नवीन ही श्लोकका संगठन किया गया है। नीचेके उदाहरणोंसे इस विषयका और भी स्पष्टीकरण हो जायगा:—

(१) विवेकविलासके आठवें उल्लासमें निम्नलिखित दो पद्य दिये हैं:—

"हरितालप्रभैश्चक्री नेत्रैर्नीलैरहं मदः।
रक्तैर्नृपः सितैर्ज्ञानी मधुपिङ्गैर्महाधनः॥ ३४३॥
सेनाध्यक्षो गजाक्षः स्याद्दीर्घाक्षश्चिरजीवितः।
विस्तीर्णाक्षो महाभोगी कामी पारावतेक्षणः॥३४४॥"

इन दोनों पद्योंमेंसे एकमें नेत्रके रंगकी अपेक्षा और दूसरेमें आकार विस्तारकी अपेक्षा कथन है। परन्तु कुंदकुंदश्रावकाचारमें पहले पद्यका पूर्वार्ध और दूसरेका उत्तरार्ध मिलाकर एक पद्य दिया है, जिसका नं. ३३६ है। इससे साफ़ प्रगट है कि बाकीके दोनों उत्तरार्ध और पूर्वार्ध छूट गये हैं।

(२) विवेकविलासके इसी आठवें उल्लासमें दो पद्य इस प्रकार हैं—

"नद्याः परतटाद्गोष्ठात्क्षीरद्रोः सलिलाशयात्।
निवर्त्ततात्मनोऽभीष्टाननुव्रज्य प्रवासिनः॥ ३६६॥
नासहायो न चाज्ञातैर्नैव दासैः समं तथा।
नातिमध्यं दिने नार्धरात्रौ मार्गे बुधो व्रजेत्॥३६७॥"

इन दोनों पद्योंमेंसे पहले पद्यमें यह वर्णन है कि यदि कोई अपना इष्टजन परदेशको जावे तो उसके साथ कहाँतक जाकर लौट आना चाहिए। और दूसरेमें यह कथन है कि मध्याह्न और अर्ध रात्रिके समय विना अपने किसी सहायकको साथ लिये, अज्ञात मनुष्यों तथा गुलामोंके साथ मार्ग नहीं चलना चाहिए। कुंदकुंदश्रावकाचारमें इन दोनों पद्योंके स्थानमें एक पद्य इस प्रकारसे दिया है—

"नद्याः परतटाद्गोष्ठात्क्षीरद्रोः सलिलाशयात्।
नातिमध्यं दिने नार्धरात्रौ मार्गे बुधो व्रजेत्॥ ३५८॥

यह पद्य बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है। पूर्वार्धका उत्तरार्धसे कोई सम्बंध नहीं मिलता, और न दोनोंको मिलाकर एक अर्थ ही नि-

कलता है। इससे कहना होगा कि विवेकविलासमें दिये हुए दोनों उत्तरार्ध और पूर्वार्ध यहाँ छूट गये हैं और तभी यह असमंजसता प्राप्त हुई है। विवेकविलासके इसी उल्लाससंबंधी पद्य नं० ४२० और ४२१ के सम्बन्धमें भी ऐसी ही गड़बड़ की गई है। पहले पद्यके पहले चरणको दूसरे पद्यके अन्तिम तीन चरणोंसे मिलाकर एक पद्य बना डाला है; बाकी पहले पद्यके तीन चरण और दूसरे पद्यका पहला चरण, ये सब छूट गये हैं। लेखकोंके प्रमादको छोड़कर, पद्योंकी इस घटावढ़ीका कोई दूसरा विशेष कारण मालूम नहीं होता। प्रमादी लेखकों द्वारा इतने बड़े ग्रंथोंमें दस बीस पद्योंका छूट जाना तथा उलट फेर हो जाना कुछ भी बड़ी बात नहीं है। इसी लिए ऊपर यह कहा गया है कि ये दोनों ग्रंथ वास्तवमें एक ही हैं। दोनों ग्रंथोंमें असली फ़र्क सिर्फ़ ग्रंथ और ग्रंथकर्ताके नामोंका है—विवेकविलासकी संधियोंमें ग्रंथका नाम 'विवेकविलास' और ग्रंथकर्ताका नाम 'जिनदत्तसूरि' लिखा है। कुंदकुंदश्रावकाचारकी संधियोंमें ग्रंथका नाम 'श्रावकाचार' और ग्रंथकर्ताका नाम कुछ संधियोंमें 'श्रीजिनचंद्राचार्यके शिष्य कुन्दकुन्दस्वामी' और शेष संधियोंमें केवल 'कुन्दकुन्द स्वामी' दर्ज है—इसी फ़र्कके कारण प्रथम उल्लासके दो पद्योंमें इच्छापूर्वक परिवर्तन भी पाया जाता है। विवेकविलासमें वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं:—

"जीववत्प्रतिभा यस्य वचो मधुरिमांचितम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं वंदे सूरिवरं गुरुम्॥ ३॥
स्वस्थानस्यापि पुण्याय कुप्रवृत्तिनिवृत्तये।
श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रंथः प्रारभ्यते मितः॥ ९॥

इन दोनों पद्योंके स्थानमें कुंदकुंदश्रावकाचारमें ये पद्य दिये हैं:—

"जीववत्प्रतिभा यस्य वचो मधुरिमांचितम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं वंदे जिनविधुं गुरुम्॥ ३॥

स्वस्यानस्यापि पुण्याय कुप्रवृत्तिनिवृत्तये।
श्रावकाचारविन्यासग्रंथः प्रारभ्यते मितः॥ १॥

दोनों ग्रंथोंके इन चारों पद्योंमें परस्पर ग्रंथनाम और ग्रंथकर्ताके गुरुनामका ही भेद है। समूचे दोनों ग्रंथोंमें यही एक वास्तविक भेद पाया जाता है। जब इस नाममात्रके (ग्रंथनाम-ग्रंथकर्तानामके) भेदके सिवा और तौरपर ये दोनों ग्रंथ एक ही हैं, तब यह ज़रूरी है कि इन दोनोंमेंसे, उभयनामकी सार्थकता लिये हुए, कोई एक ग्रंथही असली हो सकता है; दूसरेको अवश्य ही नकली या बनावटी कहना होगा।

अब यह सवाल पैदा होता है कि **इन दोनों ग्रंथोंमेंसे असली कौन है और नकली या बनावटी कौनसा?** दूसरे शब्दोंमें यों कहिए कि क्या पहले कुंदकुंदश्रावकाचार मौजूद था और उसकी संधियों तथा दो पद्योंमें नामादिकका परिवर्तनपूर्वक नकल करके जिनदत्तसूरि या उनके नामसे किसी दूसरे व्यक्तिने उस नकलका नाम 'विवेकविलास' रक्खा है; और इस प्रकारसे दूसरे विद्वान्के इस ग्रंथको अपनाया है? अथवा पहले विवेकविलास ही मौजूद था और किसी व्यक्तिने उसकी इस प्रकारसे नकल करके उसका नाम 'कुंदकुंदश्रावकाचार' रख छोड़ा है; और इस तरहपर अपने क्षुद्र विचारोंसे या अपने किसी गुप्त अभिप्रायकी सिद्धिके लिए इस ग्रंथको भगवत्कुंदकुंदके नामसे प्रसिद्ध करना चाहा है।

यदि कुंदकुंदश्रावकाचारको, वास्तवमें, भगवत्कुंदकुंदस्वामीका बनाया हुआ माना जाय, तब यह कहना ही होगा कि, विवेकविलास उसी परसे नकल किया गया है। क्यों कि श्रीकुंदकुंदाचार्य जिनदत्तसूरिसे एक हज़ार वर्षसे भी अधिक काल पहले हो चुके हैं। परन्तु ऐसा मानने और कहनेका कोई साधन नहीं है। कुंदकुंदश्रावकाचारमें श्रीकुंदकुंदस्वामी और उनके गुरुका नामोल्लेख होनेके सिवा और कहीं भी इस

विषयका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे निश्चय किया जाय कि यह ग्रंथ वास्तवमें भगवत्कुंदकुंदाचार्यका ही बनाया हुआ है । कुंद-कुंदस्वामीके बाद होनेवाले किसी भी माननीय आचार्यकी कृतिमें इस श्रावकाचारका कहीं नामोल्लेख तक नहीं मिलता; प्रत्युत इसके, विवेक-विलासका उल्लेख ज़रूर पाया जाता है । जिनदत्तसूरिके समकालीन या उनसे कुछ ही काल बाद होने वाले वैदिकधर्मावलम्बी विद्वान् **श्रीमाध-वाचार्यने** अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामके ग्रंथमें विवेकविलासका उल्लेख किया है और उसमें **बौद्धदर्शन** तथा **आर्हतदर्शनसम्बंधी** २३ श्लोक विवेकविलास और जिनदत्तसूरिके हवालेसे उद्धृत किये हैं * । ये सब श्लोक कुन्दकुन्दश्रावकाचारमें भी मौजूद हैं । इसके सिवा विवेकविलासकी एक चारसौ पाँचसौ वर्षकी लिखी हुई प्राचीन प्रति बम्बईके जैनमंदिरमें मौजूद है * । परन्तु कुंदकुंदश्रावकाचारकी कोई प्रचीन प्रति नहीं मिलती । इन सब बातोंको छोड़ कर, खुद ग्रंथका साहित्य भी इस बातका साक्षी नहीं है कि यह ग्रंथ भगवत्कुंदकुंदाचार्यका बनाया हुआ है । कुंदकुंदस्वामीकी लेखनप्रणाली-उनकी कथन शैली-कुछ और ही ढंगकी है; और उनके विचार कुछ और ही छटाको लिये हुए होते हैं । भगवत्कुंदकुंदके जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हुए हैं, वे सब प्राकृत भाषामें हैं । परन्तु इस श्रावकाचारकी भाषा संस्कृत है; समझमें नहीं आता कि जब भगवत्कुंदकुंदने बारीकसे बारीक, गूढ़से गूढ़ और सुगम ग्रंथोंको भी प्राकृत भाषामें रचा है, जो उस समयके लिए उपयोगी भाषा थी, तब वे एक इसी, साधारण गृहस्थोंके लिए बनाये हुए, ग्रंथको

* देखो 'सर्वदर्शनसंग्रह' पृष्ठ ३८–७२ श्रीव्येंकटेश्वरछापाखाना बम्बई द्वारा संवत् १९६२ का छपा हुआ ।

* विवेकविलासकी इस प्राचीन प्रतिका समाचार अभी हालमें मुझे अपने एक मित्रद्वारा मालूम हुआ है ।

संस्कृत भाषामें क्यों रचते ? परन्तु इसे रहने दीजिए । जैन समाजमें आजकल जो भगवत्कुंदकुंदके निर्माण किये हुए समयसार, प्रवचन-सारादि ग्रंथ प्रचलित हैं, उनमेंसे किसी भी ग्रंथकी आदिमें कुंदकुंद-स्वामीने 'जिनचंद्राचार्य' गुरुको नमस्काररूप मंगलाचरण नहीं किया है। परन्तु श्रावकाचारके, ऊपर उद्धृत किये हुए, तीसरे पद्यमें 'वन्दे जिनविधुं गुरुम्' इस पद्यके द्वारा 'जिनचंद्र' गुरुको नमस्कार-रूप मंगलचरण पाया जाता है। कुंदकुंदस्वामीके ग्रंथोंमें आम तौर पर एक पद्यका मंगलाचरण है। सिर्फ 'प्रवचनसार' में पाँच पद्योंका मंगलाचरण मिलता है। परंतु इस पाँच पद्योंके विशेष मंगलाचरणमें भी जिनचंद्रगुरुको नमस्कार नहीं किया गया है। यह विलक्षणता इसी श्रावकाचारमें पाई जाती है। रही मंगलाचरणके भाव और भाषाकी बात, वह भी उक्त आचार्यके किसी ग्रंथसे इस श्रावकाचारकी नहीं मिलती। विवेकविलासमें भी यही पद्य है; भेद सिर्फ इतना है कि उसमें 'जिनविधुं, के स्थानमें 'सूरिवरं' लिखा है। जिनदत्तसूरिके गुरु 'जीवदेव' का नाम इस पद्यके चारों चरणोंके प्रथमाक्षरोंको मिलानेसे निकलता है। यथा:—

जीववत्प्रतिभा यस्य, वचो मधुरिमांचितम्। देहं गेहं श्रियस्तं स्वं, वन्दे सूरिवरं गुरुम्॥ ३॥	जी+व+दे+व=जीवदेव।

बस, इतनी ही इस पद्यमें कारीगरी (रचनाचातुरी) रक्खी गई है। और तौरपर इसमें कोई विशेष गौरवकी बात नहीं पाई जाती। विवेक-विलासके भाषाकारने भी इस रचनाचातुरीको प्रगट किया है। इससे यह पद्य कुंदकुंदस्वामीका बनाया हुआ न होकर जीवदेवके शिष्य जिनदत्तसूरिका ही बनाया हुआ निश्चित होता है। अवश्य ही कुंदकुंद-

श्रावकाचारमें 'सूरिवरं' के स्थानमें 'जिनविधुं' की बनावट की गई है। इस बनावटका निश्चय और भी अधिक दृढ होता है जब कि दोनों ग्रंथोंके, ऊपर उद्धृत किए हुए, पद्य नं० ९ को देखा जाता है। इस पद्यमें ग्रंथके नामका परिवर्त्तन है—'विवेकविलास'के स्थानमें 'श्रावकाचार' बनाया गया है—वास्तवमें यदि देखा जाय तो यह ग्रंथ कदापि 'श्रावकाचार' नहीं हो सकता। श्रावककी ११ प्रतिमाओं और १२ व्रतोंका वर्णन तो दूर रहा, इस ग्रंथमें उनका नाम तक भी नहीं है। भगवत्कुंदकुंदने स्वयं षट्पाहुडके अंतर्गत 'चारित्र पाहुड' में ११ प्रतिमा और १२ व्रतरूप श्रावकधर्मका वर्णन किया है। और इस कथनके अन्तकी २७ वीं गाथामें, 'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं' इस वाक्यके द्वारा इसी (११ प्रतिमा १२ व्रतरूप संयमाचरण) को श्रावकधर्म बतलाया है। परन्तु वे ही कुंदकुंद अपने श्रावकाचारमें जो खास श्रावकधर्मके ही वर्णनके लिए लिखा जाय उन ११ प्रतिमादिकका नाम तक भी न देवें, यह कभी हो नहीं सकता। इससे साफ प्रगट है कि यह ग्रन्थ श्रावकाचार नहीं है; बल्कि विवेकविलासके उक्त ९ वें पद्यमें 'विवेकविलासाख्यः' इस पदके स्थानमें 'श्रावकाचारविन्यास' यह पद रखकर किसीने इस ग्रंथका नाम वैसे ही श्रावकाचार रख छोड़ा है। अब पाठकोंको यह जाननेकी जरूर उत्कंठा होगी कि जब इस ग्रंथमें श्रावकधर्मका वर्णन नहीं है, तब क्या वर्णन है? अतः इस ग्रन्थमें जो कुछ वर्णित है, उसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है:—

"सवेरे उठनेकी प्रेरणा; स्वप्नविचार; स्वरविचार; सवेरे पुरुषोंको अपना दाहिना और स्त्रियोंको बायाँ हाथ देखना; मलमूत्रत्याग और गुदादिप्रक्षालनविधि; दन्तधावनविधि; सवेरे नाकसे पानी पीना; तेलके कुरले करना; केशोंका सँवारना; दर्पण देखना; मातापितादिककी भक्ति

और उनका पालन; देहली आदिका पूजन; दक्षिण वाम स्वरसे प्रश्नोंका उत्तरविधान; सामान्य उपदेश; चन्द्रबलादिकके विचार करनेकी प्रेरणा; देवमूर्तिके आकारादिका विचार; मंदिरनिर्माणविधि; भूमिपरीक्षा; काष्ठ-पाषाणपरीक्षा; स्नानविचार; क्षौरकर्म (हजामत) विचार; वित्तादिकके अनुकूल शृंगार करनेकी प्रेरणा; नवीनवस्त्रधारणविचार; ताम्बूल भक्षणकी प्रेरणा और विधि; खेती, पशुपालन और अन्नसंग्रहादिकके द्वारा धनो-पार्जनका विशेष वर्णन; वणिक्व्यवहारविधि; राज्यसेवा; राजा, मंत्री, सेनापति और सेवकका स्वरूपवर्णन; व्यवसायमहिमा; देवपूजा; दानकी प्रेरणा; भोजन कब, कैसा, कहाँ और किस प्रकार करना न करना आदि; समय मालूम करनेकी विधि, भोजनमें विषकी परीक्षा; आमदनी और खर्च आदिका विचार करना; संध्यासमय निषिद्ध कर्म; दीपकशकुन; रात्रिको निषिद्ध कर्म; कैसी चारपाई पर किस प्रकार सोना; वरके लक्षण; वधूके लक्षण; सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शरीरके अंगोपांग तथा हस्तरेखादिकके द्वारा पुरुषपरीक्षा और स्त्रीपरीक्षाका विशेष वर्णण लगभग १०० श्लोकोंमें; विषकन्याका लक्षण; किस स्त्रीको किस दृष्टिसे देखना; त्याज्य स्त्रियाँ; स्त्रियोंके पद्मिनी, संखिनी आदि भेद; स्त्रियोंका वशीकरण; सुरतिके चिह्न; ऋतुभेदसे मैथुनभेद; स्त्रियोंसे व्यवहार; प्रेम टूटनेके कारण; पतिसे विरक्त स्त्रियोंके लक्षण; कुलस्त्रीका लक्षण और कर्त्तव्य; रजस्वलाका व्यवहार; मैथुनविधि; वीर्यवर्धक पदार्थोंके सेवनकी प्रेरणा; गर्भमें बाल-कके अंगोपांग बननेका कथन, गर्भस्थित बालकके स्त्री–पुरुष–नपुंसक होनेकी पहचान; जन्ममुहूर्तविचार; बालकके दाँत निकलने पर शुभाशु-भविचार; निद्राविचार; ऋतुचर्या; वार्षिक श्राद्ध करनेकी प्रेरणा; देश और राज्यका विचार; उत्पातादि निमित्तविचार, वस्तुकी तेजी मंदी जाननेका विचार; ग्रहोंका योग, गति और फलविचार; गृहनिर्माणवि-चार; गृहसामग्री और वृक्षादिकका विचार; विद्यारम्भके लिए नक्षत्रादि-

विचार; गुरुशिष्यलक्षण और उनका व्यवहार; कौन कौन विद्यायें और कलायें सीखनीं; विषलक्षण तथा सर्पादिकके छूनेका निषेध; सर्पादिकसे डसे हुए मनुष्यके विष दूर होने न होने आदिका विचार और चिकित्सा (९८ श्लोकोंमें); षट्दर्शनोंका वर्णन; सविवेक-वचनाविचार; किस किस वस्तुको देखना और किसको नहीं; दृष्टिविचार और नेत्रस्वरूपविचार, चलने फिरनेका विचार; नीतिका विशेषोपदेश; (६५ श्लोकोंमें) पापके काम और क्रोधादिके त्यागका उपदेश; धर्म करनेकी प्रेरणा; दान, शील, तप और १२ भावानओंका संक्षिप्त कथन; पिंडस्थादिध्यानका उपदेश; ध्यानकी साधकसामग्री; जीवात्मासंबंधी प्रश्नोत्तर, मृत्युविचार और विधिपूर्वक शरीरत्यागकी प्रेरणा।"

यही सब इस ग्रंथकी संक्षिप्त विषय-सूची है। संक्षेपसे, इस ग्रंथमें सामान्य नीति, वैद्यक, ज्योतिष, निमित्त, शिल्प और सामुद्रिकादि शास्त्रोंके कथनोंका संग्रह है। इससे पाठक खुद समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ असलियतमें 'विवेकविलास' है या 'श्रावकाचार'। यद्यपि इस विषयसूचीसे पाठकोंको इतना अनुभव ज़रूर हो जायगा कि इस प्रकारके कथनोंको लिये हुए यह ग्रंथ भगवत्कुंदकुंदाचार्यका बनाया हुआ नहीं हो सकता। क्योंकि भगवत्कुंदकुंद एक ऊँचे दर्जेके आत्मानुभवी साधु और संसारदेहभोगोंसे विरक्त महात्मा थे और उनके किसी भी प्रसिद्ध ग्रंथसे उनके कथनका ऐसा ढंग नहीं पाया जाता है। परन्तु फिर भी इस नाममात्रके श्रावकाचारके कुछ विशेष कथनोंको, नमूनेके तौरपर नीचे दिखलाकर और भी अधिक इस बातको स्पष्ट किये देता हूँ कि यह ग्रंथ भगवत्कुंदकुंदाचार्यका बनाया हुआ नहीं है:—

(१) भगवत्कुंदकुंदाचार्यके ग्रंथोंमें मंगलाचरणके साथ या उसके अनन्तर ही ग्रंथकी प्रतिज्ञा पाई जाती है और ग्रंथका फल तथा आशीर्वाद, यदि होता है तो वह, अन्तमें होता है। परन्तु इस ग्रंथके कथनका

कुछ ढंग ही विलक्षण है । इसमें पहले तीन पद्योंमें तो मंगलाचरण किया गया; चौथे पद्यमें ग्रंथका फल, लक्ष्मीकी प्राप्ति आदि बतलाते हुए ग्रंथको आशीर्वाद दिया गया; पांचवेंमें लक्ष्मीको चंचल कहनेवालोंकी निन्दा की गई; छठे सातवेंमें लक्ष्मीकी महिमा और उसकी प्राप्तिकी प्रेरणा की गई; आठवें नौवेंमें (इतनी दूर आकर) ग्रंथकी प्रतिज्ञा और उसका नाम दिया गया है; दसवेंमें यह बतलाया है कि इस ग्रंथमें जो कहीं कहीं (कहीं कहीं या प्रायः सर्वत्र ?) प्रवृत्तिमार्गका वर्णन किया गया है वह भी विवेकी द्वारा आदर किया हुआ निवृत्तिमार्गमें जा मिलता है; ग्यारहवें बारहवेंमें फिर ग्रंथका फल और एक बृहत् आशीर्वाद दिया गया है; इसके बाद ग्रंथका कथन शुरू किया है । इस प्रकारका अक्रम कथन पढ़नेमें बहुत ही खटकता है और वह कदापि भगवत्कुंदकुंदका नहीं हो सकता । ऐसे और भी कथन इस ग्रंथमें पाये जाते हैं । अस्तु । इन पद्योंमेंसे पाँचवा पद्य इस प्रकार है:—

चंचलत्वं कलंकं ये श्रियो ददति दुर्धियः ।
ते मुग्धाः स्वं न जानन्ति निर्विवेकमपुण्यकम् ॥ ५ ॥

अर्थात्—जो दुर्बुद्धि लक्ष्मीपर चंचलताका दोष लगाते हैं, वे मूढ यह नहीं जानते हैं कि हम खुद निर्विवेकी और पुण्यहीन हैं । भावार्थ, जो लक्ष्मीको चंचल बतलाते हैं वे दुर्बुद्धि, निर्विवेकी और पुण्यहीन हैं ।

पाठकगण ! क्या अध्यात्मरसके रसिक और अपने ग्रंथोंमें स्थान स्थानपर दूसरोंके शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेका हार्दिक प्रयत्न करनेवाले महर्षियोंके ऐसे ही वचन होते हैं ? कदापि नहीं । भगवत्कुंदकुंद तो क्या, सभी आध्यात्मिक आचार्योंने लक्ष्मीको '**चंचला**' '**चपला**' '**इन्द्रजालोपमा,**' '**क्षणभंगुरा,**' इत्यादि विशेषणोंके साथ वर्णन किया है । नीतिकारोंने भी '**चलालक्ष्मीश्चलाः प्राणाः...**' इत्यादि वाक्योंद्वारा ऐसा ही प्रतिपादन किया है और वास्तवमें लक्ष्मीका स्वरूप

है भी ऐसा ही। फिर इस कहनेमें दुर्बुद्धि और मूढ़ताकी बात ही कौनसी हुई, यह कुछ समझमें नहीं आता। यहाँपर पाठकोंके हृदयमें यह प्रश्न ज़रूर उत्पन्न होगा कि जब ऐसा है तब जिनदत्तसूरिने ही क्यों इस प्रकारका कथन किया है। इसका उत्तर सिर्फ़ इतना ही हो सकता है कि इस बातको तो जिनदत्तसूरि ही जानें कि उन्होंने क्यों ऐसा वर्णन किया है। परन्तु ग्रंथके अंतमें दी हुई उनकी 'प्रशस्ति' से इतना ज़रूर मालूम होता है कि उन्होंने यह ग्रंथ जाबाली-नगराधिपति उदयसिंहराजाके मंत्री देवपालके पुत्र धनपालको खुश करनेके लिए बनाया था। यथा:—

"तन्मनःतोषपोषाय जिनाद्यैर्दत्तसूरिभिः।
श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रंथोऽयं निर्ममेऽनघः॥ ९॥

शायद इस मंत्रीसुतकी प्रसन्नताके लिए ही जिनदत्तसूरिको ऐसा लिखना पड़ा हो। अन्यथा उन्होंने खुद दसवें उल्लासके पद्य नं. २१ में धनादिकको अनित्य वर्णन किया है।

(२) इस ग्रंथके प्रथम उल्लासमें जिनप्रतिमा और मंदिरके निर्माणका वर्णन करते हुए लिखा है कि गर्भगृहके अर्धभागके भित्तिद्वारा पाँच भाग करके पहले भागमें यक्षादिककी; दूसरे भागमें सर्व देवियोंकी; तीसरे भागमें जिनेंद्र, सूर्य, कार्तिकेय और कृष्णकी; चौथे भागमें ब्रह्माकी और पाँचवें भागमें शिवलिंगकी प्रतिमायें स्थापन करनी चाहिएँ। यथा:—

"प्रासादगर्भगेहार्द्धे भित्तितः पंचधा कृते।
यक्षाद्याः प्रथमे भागे देव्यः सर्वा द्वितीयके॥ १४८॥
जिनार्कस्कन्दकृष्णानां प्रतिमा स्युस्तृतीयके।
ब्रह्मा तु तुर्यभागे स्याल्लिंगमीशस्य पंचमे॥ १४९॥"

यह कथन कदापि भगवत्कुंदकुंदका नहीं हो सकता। न जैनमतका ऐसा विधान है और न प्रवृत्ति ही इसके अनुकूल पाई जाती है। श्वेताम्बर जैनियोंके मंदिरोंमें भी यक्षादिकको छोड़कर महादेवके लिंगकी

स्थापना तथा कृष्णादिककी मूर्तियाँ देखनेमें नहीं आतीं । शायद यह कथन भी जिनदत्तसूरिने मंत्रिसुतकी प्रसन्नताके लिए, जिसे प्रशस्तिके सातवें पद्यमें सर्व धर्मोंका आधार बतलाया गया है, लिख दिया हो ।

(३) इस ग्रंथके दूसरे उल्लासका एक पद्य इस प्रकार है:—

" साध्वर्थे जीवरक्षायै गुरुदेवगृहादिषु ।
मिथ्याकृतैरपि नृणां शपथैर्नास्ति पातकम् ॥ ६९ ॥ "

इस पद्यमें लिखा है कि साधुके वास्ते, और जीवरक्षाके लिए गुरु तथा देवके मंदिरादिकोंमें झूठी क़सम (शपथ) खानेसे कोई पाप नहीं लगता । यह कथन जैनसिद्धन्तका बिलकुल विरुद्ध है । भगवत्कुंदकुंदका ऐसा नीचा और गिरा हुआ उपदेश नहीं हो सकता ।

(४) आठवें उल्लासमें ग्रंथकार लिखते हैं कि बहादुरीसे, तपसे, विद्यासे या धनसे अत्यंत अकुलीन मनुष्य भी क्षणमात्रमें कुलीन हो जाता है । यथाः—

"शौर्येण वा तपोभिर्वा विद्यया वा धनेन वा ।
अत्यन्तमकुलीनोऽपि कुलीनो भवति क्षणात् ॥ ३९१ ॥

मालूम नहीं होता कि आचारादिको छोड़कर केवल बहादुरी, विद्या या धनका कुलीनतासे क्या संबंध है और किस सिद्धान्तपर यह कथन अवलम्बित है।

(५) दूसरे उल्लासमें ताम्बूलभक्षणकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि—

" यः स्वादयति ताम्बूलं वक्त्रभूषाकरं नरः ।
तस्य दामोदरस्येव न श्रीस्त्यजति मंदिरम् ॥ ३९ ॥

अर्थात्—जो मनुष्य मुखकी शोभा बढ़ानेवाला पान चबाता है उसके घरको लक्ष्मी इस प्रकारसे नहीं छोड़ती जिस प्रकार वह श्रीकृष्णको नहीं छोड़ती । भावार्थ, पान चबानेवाला कृष्णजीके समान लक्ष्मीवान् होता है ।

यह कथन भी जैनमतके किसी सिद्धान्तसे सम्बंध नहीं रखता और न किसी दिगम्बर आचार्यका ऐसा उपदेश हो सकता है । आजकल बहुतसे मनुष्य रात दिन पान चबाते रहते हैं, परन्तु किसीको भी श्रीकृष्णके समान लक्ष्मीवान् होते नहीं देखा ।

(६) ग्यारहवें उल्लासमें ग्रंथकाकार लिखते हैं कि जिस प्रकार बहु-तसे वर्णोंकी गौओंमें दुग्ध एक ही वर्णका होता है उसी प्रकार सर्व धर्मों में तत्त्व एक ही है । यथा—

" एकवर्णं यथा दुग्धं बहुवर्णासु धेनुषु ।
तथा धर्मस्य वैचित्र्यं तत्त्वमेकं परं पुनः ॥ ७३ ॥

यह कथन भी जैनसिद्धान्तके विरुद्ध है । भगवत्कुंदकुंदके ग्रंथोंसे इसका कोई मेल नहीं मिलता । इसलिए यह कदापि उनका वचन नहीं हो सकता ।

(७) पहले उल्लासमें एक स्थानपर लिखा है कि जिस मंदिर पर ध्वजा नहीं है उस मंदिरमें किये हुए पूजन, होम और जपादिक सब ही विलुप्त हो जाते हैं; अर्थात् उनका कुछ भी फल नहीं होता । यथाः—

" प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम् ।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥ १७१ ॥

यह कथन बिलकुल युक्ति और आगमके विरुद्ध है । इसको मानते हुए जैनियोंको अपनी कर्मफिलासोफीको उठाकर रख देना होगा । उमा स्वामिश्रावकाचारमें भी यह पद्य आया है; उक्त श्रावकाचारपर लिखे गये परीक्षालेखमें इस पद्यपर पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है । इस लिए अब पुनः अधिक लिखनेकी ज़रूरत नहीं है ।

(८) आठवें उल्लासमें जिनेंद्रदेवका स्वरूप वर्णन करते हुए अठारह दोषोंके नाम इस इस प्रकार दिये हैंः—

१ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दानान्तराय, ५ लाभान्तराय, ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा, १० हास्य, ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक और १८ मिथ्यात्व । यथाः—

" बलभोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः ।
नान्तरायस्तथा निद्रा, भीरज्ञानं जुगुप्सनम् ॥ २४१ ॥

हासो रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादशदोषा न यस्य सः॥ २४२॥"

अठारह दोषोंके ये नाम श्वेताम्बर जैनियों द्वारा ही माने गये हैं। प्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु **आत्माराम**जीने भी इन्हीं अठारह दोषोंका उल्लेख अपने 'जैनतत्त्वादर्श' नामक ग्रंथके पृष्ठ ४ पर किया है। परन्तु दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें जो अठारह दोष माने जाते हैं और जिनका बहुतसे दिगम्बर जैनग्रंथोंमें उल्लेख है उनके नाम इस प्रकार हैं:—

"१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ द्वेष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा, ९ रोग, १० मृत्यु, ११ स्वेद, १२ खेद, १३ मद, १४ रति, १५ विस्मय, १६ जन्म, १७ निद्रा, और १८ विषाद।"

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंकी इस अष्टादशदोषोंकी नामावलीमें बहुत बड़ा अन्तर हैं। सिर्फ़ निद्रा, भय, रति, राग और द्वेष ये पाँच दोष ही दोनोंमें एक रूपसे पाये जाते हैं। बाकी सब दोषोंका कथन परस्पर भिन्न भिन्न है और दोनोंके भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंपर अवलम्बित है। इससे निःसन्देह कहना पड़ता है कि **यह ग्रंथ श्वेतांबर सम्प्रदायका ही है। दिगम्बरोंका इससे कोई सम्बंध नहीं है।** और श्वेताम्बर सम्प्रदायका भी यह कोई सिद्धान्त ग्रंथ नहीं है; बल्कि मात्र विवेकविलास है, जो कि एक मंत्रीसुतकी प्रसन्नताके लिए बनाया गया था। विवेकविलासकी संधियाँ और उसके उपर्युल्लिखित दो पद्यों (नं० ३,९) में कुछ ग्रंथनामादिकका परिवर्तन करके ऐसे किसी व्यक्तिने, जिसे इतना भी ज्ञान नहीं था कि, दिगम्बर और श्वेताम्बरों द्वारा माने हुए अठारह दोषोंमें कितना भेद है, विवेकविलासका नाम 'कुन्दकुन्दश्रावकाचार' रक्खा है। और इस तरह पर इस **नकली श्रावकाचार**के द्वारा साक्षी आदि अपने किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। अस्तु। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जिस

व्यक्तिने यह परिवर्तनकार्य किया है वह बड़ा ही धूर्त और दिगम्बर जैनसमाजका शत्रु था। परिवर्तनका यह कार्य कब और कहाँपर हुआ है इसका मुझे अभी तक ठीक निश्चय नहीं हुआ। परन्तु जहाँतक मैं समझता हूँ इस परिवर्तनको कुछ ज्यादह समय नहीं हुआ है और इसका विधाता जयपुर नगर है।

अन्तमें जैन विद्वानोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि यदि उनमेंसे किसीके पास कोई ऐसा प्रमाण मौजूद हो, जिससे यह ग्रंथ भगवत्कुंदकुंदका बनाया हुआ सिद्ध हो सके तो वे खुशीसे बहुत शीघ्र उसे प्रकाशित कर देवें। अन्यथा उनका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि जिस भंडारमें यह ग्रंथ मौजूद हो, उस ग्रंथपर लिख दिया जाय कि **'यह ग्रंथ भगवत् कुंदकुंदस्वामीका बनाया हुआ नहीं है। बल्कि वास्तवमें यह श्वेताम्बर जैनियोंका 'विवेकविलास' ग्रंथ है। किसी धूर्तने ग्रंथकी संधियों और तीसरे व नौवें पद्यमें ग्रंथ नामादिकका परिवर्तन करके इसका नाम ' कुन्दकुन्दश्रावकाचार ' रख दिया है'**—साथ ही उन्हें अपने भंडारोंके दूसरे ग्रंथोंको भी जाँचना चाहिए और जांचके लिए दूसरे विद्वानोंको देना चाहिए। केवल वे हस्त-लिखित भंडारोंमें मौजूद हैं और उनके साथ दिगम्बराचार्योंका नाम लगा हुआ है, इतनेपरसे ही उन्हें दिगम्बर-ऋषि-प्रणीत न समझ लें। उन्हें खूब समझ लेना चाहिए कि जैन समाजमें एक ऐसा युग भी आ चुका है जिसमें कषायवश प्राचीन आचार्योंकी कीर्तिको कलंकित करनेका प्रयत्न किया गया है और अब उस कीर्तिको सुरक्षित रखना हमारा खास काम है। इत्यलं विज्ञेषु।

देवबंद जि० सहारनपुर। ता० १७-२-१५।

३

जिनसेन-त्रिवर्णाचार ।

इस त्रिवर्णाचारका दूसरा नाम ' उपासकाध्ययनसारोद्धार ' भी है; ऐसा इस ग्रंथकी प्रत्येक संधिसे प्रगट होता है। यह ग्रंथ किस समय बना है और किसने बनाया है, इसका पृथक्रूपसे कोई स्पष्टोल्लेख इस ग्रंथमें किसी स्थान पर नहीं किया गया है। कोई ' प्रशस्ति ' भी इस ग्रंथके साथ लगी हुई नहीं है। ग्रंथकी संधियोंमें ग्रंथकर्त्ताका नाम कहीं पर ' श्रीजिनसेनाचार्य ' कहीं ' श्रीभगवाज्जिनसेनाचार्य ' कहीं श्रीजिनसेनाचार्य नामांकित विद्वज्जन ' और कहीं ' श्रीभट्टारकवर्य जिनसेन ' दिया है। इन संधियोंमेंसे पहली संधि इस प्रकार है:—

" इत्यार्षे श्रीमद्भगवन्मुखारविंदाद्विनिर्गते श्रीगौतमार्षिपद्‌पद्माराधकेन श्रीजिनसेनाचार्येण विरचिते त्रिवर्णाचारे उपासकाध्ययनसारोद्धारे श्रीश्रेणिकमहामंडलेश्वरप्रश्नकथनश्रीमद्वृषभदेवस्य पंचकल्याणकवर्णनद्विजोत्पत्तिभरतराजदृष्टषोडशस्वप्नफलवर्णनं नाम प्रथमः पर्वः ।

संधियोंको छोड़कर किसी किसी पर्वके अन्तिम पद्योंमें ग्रंथकर्ताका नाम ' मुनि जैनसेन ' या ' भट्टारक जैनसेन ' भी लिखा है। परन्तु इस कोरे नामनिर्देशसे इस बातका निश्चय नहीं हो सकता कि यह ग्रंथ कौनसे ' जिनसेन ' का बनाया हुआ है। क्योंकि जैन समाजमें ' जिनसेन ' नामके धारक अनेक आचार्य और ग्रंथकर्ता हो गये हैं। जैसा कि आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रंथोंके प्रणेता **भगवज्जिनसेन**; हरिवंश पुराणके रचयिता **दूसरे जिनसेन**; हरिवंपुराणकी ' प्रशस्ति ' में जिनका जिकर है वे **तीसरे जिनसेन**;

श्रीमल्लिषेणाचार्यप्रणीत महापुराणकी ' प्रशस्ति ' में जिनका उल्लेख है वे **चौथे जिनसेन** और जैनसिद्धान्तभास्कर द्वारा प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें जिनका नाम है वे सोमसेन भट्टारकके पट्टाधीश **पाँचवें जिनसेन**, इत्यादि । ऐसी अवस्थामें विना किसी विशेष अनुसंधानके किसीको एकदम यह कहनेका साहस नहीं हो सकता कि यह त्रिवर्णाचार अमुक जिनसेनका बनाया हुआ है । यह भी संभव है कि जिनसेन के नामसे किसी दूसरे ही व्यक्तिने इस ग्रंथका संपादन किया हो । इस लिए अनुसंधानकी बहुत बड़ी जरूरत है । ग्रंथमें ग्रंथकर्ताके नामके साथ कहीं कहीं ' **भट्टारक** ' शब्दका संयोग पाया जाता है; पर यह संयोग इस अनुसंधानमें कुछ भी सहायता नहीं देता । क्योंकि ' भट्टारक ' शब्द यद्यपि कुछ कालसे शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधुओं-श्रमणाभासों -के लिए व्यवहृत होने लगा है, परन्तु वास्तवमें यह एक बड़ा ही गौरवान्वित पद है । शास्त्रोंमें बड़े बड़े प्राचीन आचार्यों और तीर्थंकरों तक के लिए इसका प्रयोग पाया जाता है । **आदिपुराणमें** भगवज्जिनसेनने भी ' **श्रीवीरसेनइत्यात्त भट्टारकपृथुप्रथः** ' इस पदके द्वारा अपने गुरु ' **वीरसेन** ' को ' भट्टारक ' पदवीसे विभूषित वर्णन किया है । बहुतसे लोगोंका ऐसा खयाल है कि यह त्रिवर्णाचार आदि पुराणके प्रणेता श्रीजिनसेनाचार्यका,-जिन्हें इस लेखमें आगे बराबर ' **भगवज्जिनसेन** ' लिखा जायगा,-बनाया हुआ है । परन्तु यह केवल उनका खयाल ही खयाल है । उनके पास उसके समर्थनमें ग्रंथकी संधियोंमें दिये हुए ' इत्यार्षे ' और ' भगवज्जिनसेन, ' इन शब्दोंको छोड़कर और कोई भी प्रमाण मौजूद नहीं है । ऐसे नाममात्रके प्रमाणोंसे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता । **भगवज्जिनसेन** के पीछे होनेवाले किसी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें भी इस ग्रंथका कहीं नामोल्लेख नहीं मिलता । इसलिए ग्रंथके साहित्यकी जाँचको छोड़कर कोई भी उपयुक्त साधन

इस बातके निर्णयका नहीं है कि यह ग्रंथ वास्तवमें कब बना है और किसने बनाया है।

जिस समय इस ग्रंथको परीक्षादृष्टिसे अवलोकन किया जाता है, उस समय इसमें कुछ और ही रंग और गुल खिला हुआ मालूम होता है। स्थान स्थान पर ऐसे पद्यों या पद्योंके ढेरके ढेर नज़र पड़ते हैं, जो बिलकुल ज्योंके त्यों दूसरे ग्रन्थोंसे उठाकर ही नहीं किन्तु चुराकर रक्खे गये हैं। ग्रन्थकर्ताने उन्हें अपने ही प्रगट किये हैं। और तो क्या, मंगलाचरण तक भी इस ग्रंथका अपना नहीं है। वह भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथसे उठाकर रक्खा गया है। यथाः—

"तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥
परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥

इसीसे पाठकगण समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ हो सकता है या कि नहीं। जैनसमाजमें भगवज्जिन-सेन एक प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य माने जाते हैं। उनकी अनुपम काव्यशक्तिकी बहुतसे विद्वानों, आचार्यों और कवियोंने मुक्त कंठसे स्तुति की है। जिन विद्वानोंको उनके बनाये हुए संस्कृत आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदय आदि काव्य ग्रंथों पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि भगवज्जिनसेन कितने बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं। कविता करना तो उनके लिए एक प्रका-रका खेल था। तब क्या ऐसे कविशिरोमणि मंगलाचरण तक भी अपना बनाया हुआ न रखते? यह कभी हो नहीं सकता। त्रिवर्णाचारके सम्पादकने इस पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे केवल मंगलाचरणके दो पद्य ही नहीं लिये, बल्कि इन पद्योंके अनन्तरका तीसरा पद्य भी लिया है,

जिसमें ग्रंथका नाम देते हुए परमागमके अनुसार कथन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। यथा:—

"लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥३॥

इस पद्यसे साफ़ तौरपर चोरी प्रगट हो जाती है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता, कि ये तीनों पद्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथसे उठाकर रक्खे गये हैं। क्योंकि इस तीसरे पद्यमें स्पष्टरूपसे ग्रंथका नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' दिया है। यद्यपि इस पद्यको उठाकर रखनेसे ग्रंथकर्ताकी योग्यताका कुछ परिचय ज़रूर मिलता है। परन्तु, वास्तवमें, इस त्रिवर्णाचारका सम्पादन करनेवाले कैसे योग्य व्यक्ति थे, इसका विशेष परिचय, पाठकोंको इस लेखमें, आगे चलकर मिलेगा। यहाँ पर, इस समय, कुछ ऐसे प्रमाण पाठकोंके सन्मुख उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाय कि यह ग्रंथ (त्रिवर्णाचार) भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ नहीं है और न हरिवंशपुराणके कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे और चौथे जिनसेनका ही बनाया हुआ हो सकता है:—

(१) इस ग्रंथके दूसरे पर्वमें ध्यानका वर्णन करते हुए यह प्रतिज्ञा की है कि, मैं 'ज्ञानार्णव' ग्रंथके अनुसार ध्यानका कथन करता हूँ। यथा:—

"ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम् (२-३)

ज्ञानार्णव ग्रंथ, जिसमें ध्यानादिका विस्तारके साथ कथन है, श्री शुभचंद्राचार्यका बनाया हुआ है। शुभचंद्राचार्यका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके लगभग माना जाता है और उन्होंने अपने इस ग्रंथमें 'जिनसेन' का स्मरण भी किया है। इससे स्वयं ग्रंथमुखसे ही प्रगट है कि यह त्रिवर्णाचार ज्ञानार्णवके पीछे बना है और इसलिए भगव-

ज्जिनसेनका बनाया हुआ नहीं हो सकता । और न हरिवंशपुराणके कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे जिनसेनका ही बनाया हुआ हो सकता है। क्योंकि हरिवंशपुराणके कर्ता **श्रीजिनसेनाचार्य** भगवज्जिनसेनके प्रायः समकालीन ही थे । उन्होंने **हरिवंशपुराण**को शक संवत् ७०५ (वि० सं० ८४०) में बनाकर समाप्त किया है । जब हरिवंशपुराणसे बहुत पीछे बननेके कारण यह ग्रंथ हरिवंशपुराणके कर्ताका बनाया हुआ नहीं हो सकता, तब यह स्वतः सिद्ध है कि हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिमें हरिवंशपुराणके कर्तासे पहले होनेवाले, जिन तीसरे जिनसेनका उल्लेख है उनका भी बनाया हुआ यह नहीं हो सकता ।

(२) ग्रन्थके चौथे पर्वमें एक पद्य इस प्रकार दिया है:—

" प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः ।
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम् ॥
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् ।
जल्पं जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥ १२७ ॥ "

यह पद्य श्रीवादिराजसूरिविरचित 'एकीभाव' स्तोत्रका है । वहींसे उठाकर रक्खा गया है । वादिराजसूरि विक्रमकी ११ वीं शतब्दीमें हुए हैं । उन्होंने शक संवत् ९४७ (वि. सं. १०८२) में '**पार्श्वनाथचरित**की रचना की है । इस लिए यह त्रिवर्णाचार उनसे पीछेका बना हुआ है और कदापि दो शताब्दी पहले होनेवाले भगवज्जिनसेनादिका बनाया हुआ नहीं हो सकता ।

(३) इस ग्रंथमें अनेक स्थानों पर **गोम्मटसार**की गाथायें भी पाई जाती हैं । १४ वें पर्वमें आई हुई गाथाओंमेंसे एक गाथा इस प्रकार है:-

" एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभतावसो विणओ ।
इंदोविय संसयिदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥ १२ ॥

यह गाथा गोम्मटसारमें नम्बर १६ पर दर्ज है। गोम्मटसार ग्रंथ श्रीनेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है; जो कि महाराजा चामुंडरायके समयमें विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें हुए हैं। इससे भी यह त्रिवर्णचार भगवज्जिनसेनादिसे बहुत पीछेका बना हुआ सिद्ध होता है।

(४) इस ग्रंथके चौथे पर्वमें, एक स्थानपर ग्रन्थोंको और दूसरे स्थानपर ऋषियोंको तर्पण किया है। ग्रंथोंके तर्पणमें आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, और गोम्मटसारको भी अलग अलग तर्पण किया है। ऋषियोंके तर्पणमें प्रथम तो लोहाचार्यके पश्चात् 'जिनसेन' को तर्पण किया है (जिनसेनस्तृप्यतां); फिर वीरसेनके पश्चात् 'जिनसेन' का तर्पण किया है और फिर नेमिचन्द्र तथा गुणभद्राचार्यका भी तर्पण किया है। १० वें पर्वमें जिनसेन मुनिकी स्तुति भी लिखी है और चौथे पर्वके एक श्लोकमें जिनसेनका हवाला दिया है। यथाः—

"सकलवस्तुविकाशदिवाकरं भुविभवार्णवतारणनौसमं।
सुरनरप्रमुखैरुपसेवितं सुजिनसेनमुनिं प्रणमाम्यहम्॥१०-२॥
वाचिकस्त्वेक एव स्यादुपांशुः शत उच्यते।
सहस्रमानसः प्रोक्तो जिनसेनादिसूरिभिः॥ ४-१३३॥

इस सब कथनसे भी यही प्रगट होता है कि यह ग्रंथ भगवज्जिनसेन या हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेनका बनाया हुआ नहीं है। भगवज्जिनसेनके समयमें आदिपुराण अधूरा था, उत्तरपुराणका बनना प्रारंभ भी नहीं हुआ था और गोम्मटसार तथा उसके रचयिता श्रीनेमिचंद्रका आस्तित्व ही न था।

(५) इस ग्रंथमें अनेक स्थानों पर एकसंधि भट्टारककृत 'जिन-संहिता' से सैकड़ों श्लोक उठाकर ज्योंके त्यों रक्खे हुए हैं। एक स्था-

न पर (पाँचवें पर्वमें) एकसंधि भट्टारककी बनाई हुई संहिताके अनुसार होमकुंडोंका लक्षण वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा भी की है और साथ ही तद्विषयक कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं । वह प्रतिज्ञावाक्य और संहिताके दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

लक्षणं होमकुंडानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः ।
भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम् ॥ १०३ ॥
त्रिकोणं दक्षिणे कुंडं कुर्याद्वर्तुलमुत्तरे ।
तत्रादिमेखलायाश्चाप्यवसेयाश्च पूर्ववत् ॥ (५-११०)
अथ राजन् प्रवक्ष्यामि शृणु भो जातिनिर्णयम् ।
यस्मिन्नेव परिज्ञानं स्यात् त्रैवर्णिकशूद्रयोः ॥ (११-२)"

अन्तके दोनों श्लोक 'जिनसंहितामें' क्रमशः नम्बर २१० और ४२ पर दर्ज हैं। एकसंधिभट्टारक भगवज्जिनसेनसे बहुत पीछे हुए हैं। उनका समय विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके लगभग पाया जाता है। उन्होंने खुद अपनी संहितामें बहुतसे श्लोक आदिपुराणसे उठाकर रक्खे हैं, जिनमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

"वांछन्त्यो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः ।
तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात् ॥ ४७ ॥
श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः ।
मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपूरुषः ॥ ४८ ॥

ये दोनों श्लोक आदिपुराणके १६ वें पर्वके हैं । इस पर्वमें इनका नम्बर क्रमशः १३६ और १४२ है । इससे भी प्रगट है कि यह ग्रंथ भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ नहीं है ।

(६) श्रीसोमदेवसूरिविरचित 'यशस्तिलक,' श्रीहेमचंद्राचार्यप्रणीत 'योगशास्त्र' और श्री जिनदत्तसूरिकृत 'विवेकविलास' के पद्य भी इस ग्रंथमें पाये जाते हैं, जिनका एक एक नमूना इस प्रकार है:—

क—श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ १४-११९ ॥

यह श्लोक यशस्तिलकके आठवें आश्वासका है ।

ख—अह्नो मुखेवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ १४-८७॥

यह योगशास्त्रके तीसरे प्रकाशका ६३ वाँ पद्य है ।

ग—शाश्वतानंदरूपाय तमस्तोमैकभास्वते ।
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने ॥ ९-१ ॥

यह श्लोक विवेकविलासका आदिम मंगलाचरण है ।

श्रीसोमदेवसूरि विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें हुए हैं । उन्होंने विक्रम संवत् १०१६ (शक संवत् ८८१) में यशस्तिलकको बनाकर समाप्त किया है । श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचंद्रजी राजा कुमारपालके समयमें अर्थात् विक्रमकी १३ वीं शताब्दीमें (सं० १२२९ तक) विद्यमान थे और श्वेताम्बर साधु श्रीजिनदत्तसूरि भी विक्रमकी १३ वीं शताब्दी में हुए हैं । इन आचार्योंके उपर्युक्त ग्रंथोंसे जब पद्य लिये गये हैं, तब साफ़ प्रकट है कि यह त्रिवर्णाचार उनसे भी पीछे बना है और इस लिए श्रीमल्लिषेणाचार्यकृत ‘ महापुराण ’ की प्रशस्तिमें उल्लिखित मल्लि-षेणके पिता चौथे श्रीजिनसेनसूरिका बनाया हुआ भी यह ग्रंथ नहीं हो सकता । क्योंकि मल्लिषेणने शक संवत् ९६९ (वि. सं. ११०४) में ‘ महापुराणको ’ बनाकर समाप्त किया है ।

(७) इस ग्रंथके चौथे पर्वमें, एक स्थान पर ‘ सिद्धभक्तिविधान ’ का वर्णन करते हुए, दस पद्योंमें सिद्धोंकी स्तुति दी है । इस स्तुतिका पहला और अन्तका पद्य इस प्रकार है:—

“ यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तादिरूपात्मनः,
सद्द्रव्यं चिदचित्त्रिकालविषयं स्वैः स्वैरभीक्ष्णं गुणैः ॥

साथँ व्यंजनपर्ययैः समभवज्जानाति वोधः स्वयं,
तत्सम्यक्त्वमशेषकर्मभिदुरं सिद्धाः परं नौमि वः ॥ १ ॥
उत्कीर्णामिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकय-
न्नेतां सिद्धगुणस्तुतिं पठति यः शाश्वच्छिवाशाधरः।
रूपातीतसमाधिसाधितवपुः पातः पतद्दुष्कृत-
व्रातः सोऽभ्युदयोपभुक्तसुकृतः सिद्धेत्तृतीये भवे ॥ १० ॥

यह स्तुति पंडित **आशाधरकृत** 'नित्यमहोद्योत' ग्रंथसे, जिसे '**बृहच्छांतिकाभिषेक विधान**' भी कहते हैं, ज्योंकी त्यों उठाकर रक्खी हुई है। इसके दसवें पद्यमें आशाधरजीने युक्तिके साथ अपना नाम भी दिया है। सागारधर्मामृतादि और भी अनेक ग्रंथोंमें उन्होंने इस प्रकार की युक्तिसे ('शिवाशाधरः' या 'बुधाशाधरः' लिखकर) अपना नाम दिया है। नित्य महोद्योत ग्रंथसे और भी बहुतसा गद्य पद्य उठाकर रक्खा हुआ है। इसके सिवाय उनके बनाये हुए '**सागारधर्मामृत**' से भी पचासों श्लोक उठाकर रक्खे गये हैं। उनमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

" नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥ १४-९ ॥
कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन्।
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥ १४-११ ॥"

ये दोनों श्लोक सागारधर्मामृतके पहले अध्यायमें क्रमशः नम्बर ४ और ९ पर दर्ज हैं। **आशाधर** विक्रमकी १३ वीं शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने **अनगारधर्मामृतकी** टीका वि० स० १३०० के कार्तिक मासमें बनाकर पूर्ण की है। ऐसा उक्त टीकाके अन्तमें उन्हींके वचनोंसे प्रकट है। पंडित आशाधरजीके वचनोंका इस ग्रंथमें संग्रह होनेसे साफ़ ज़ाहिर है कि यह त्रिवर्णाचार १३ वीं शताब्दीके पीछे बना है और

इस लिए शताब्दियों पहले होनेवाले भगवज्जिनसेनादिका बनाया हुआ नहीं हो सकता।

(८) अन्यमतके ज्योतिष ग्रंथोंमें 'मुहूर्तचिन्तामणि' नामका एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ नीलकंठके अनुज (छोटेभाई) रामदेवज्ञने शक संवत् १५२२ (विक्रम सं० १६५७) में निर्माण किया है *। इस ग्रंथ पर संस्कृतकी दो टीकायें हैं। पहली टीकाका नाम 'प्रमिताक्षरा' है जिसको स्वयं ग्रन्थकर्ताने बनाया है और दूसरी टीका 'पीयूषधारा' नामकी है; जिसको नीलकंठके पुत्र गोविंद दैवज्ञने शक संवत् १५२५ (वि. सं. १६६०) में बनाकर समाप्त किया है ×। इस मुहूर्तचिन्तामणिके संस्कार प्रकरणसे बीसियों श्लोक और उन श्लोकोंकी टीकाओंसे बहुतसा गद्य-भाग और पचासों पद्य ज्योंके त्यों उठाकर इस त्रिवर्णाचारके १२वें और १३वें पर्वमें रक्खे हुए हैं। मूल ग्रंथ और उसकी टीकासे उठाकर रक्खे हुए पद्योंका तथा गद्यका कुछ नमूना इस प्रकार है:—

" विप्राणां व्रतबन्धनं निगदितं गर्भाज्जनेर्वाष्टमे।
वर्षे वाप्यथ पंचमे क्षितिभुजां षष्ठे तथैकादशे॥
वैश्यानां पुनरष्टमेप्यथ पुनः स्याद्वादशे वत्सरे।
कालेऽथ द्विगुणे गते निगदितं गौणं तदाहुर्बुधाः॥ १३-८॥

---

* यथाः—" तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकंठानुजो।
गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः॥
गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषु चंद्रैर्मिते (१५२२)।
शके विनिरमादिमं खलु मुहूर्तचिन्तामणिम्॥ १४-३॥ "

× जैसा कि टीकाके अन्तमें दिये हुए इस पद्यसे प्रगट है:—
" शाके तत्त्वतिथीमिते (१५२५) युगगुणाब्दो नीलकंठात्मभू-
र्दुग्धाब्धि निखिलार्थयुक्तममलं मौहूर्तचिन्तामणिम्।
काश्यां वाक्यविचारमंदरनगेनामथ्य लेखप्रियाम्।
गोविन्दो विधिविद्वरोऽतिविमलां पीयूषधारां व्यधात्॥ ६-५॥

क्रविज्य चंद्रलग्नपा रिपौ मृतौ व्रतेऽधमाः।
व्ययेऽब्जभार्गवौ तथा तनौ मृतौ सुते खलाः॥ १२-१९॥

"गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यमिति बहुत्वान्यथानुपपत्त्या गर्भपष्ठगर्भसप्तमगर्भाष्टमेषु सौरवर्षेष्विति वृत्तिकृद्व्याख्यानात्त्रयाणामपि नित्यकालता।"

ऊपरके दोनों पद्य मुहूर्तचिन्तामणिके पाँचवें प्रकरणमें क्रमशः नम्बर ३९ और ४१ पर दर्ज हैं और गद्यभाग पहले पद्यकी टीकासे लिया गया है। मुहूर्तचिन्तामणि और उसकी टीकाओंसे इस प्रकार गद्यपद्यको उठाकर रखनेमें जो चालाकी की गई है और जिस प्रकारसे अन्धकारके ज़मानेमें, लोगोंकी आँखोंमें धूल डाली गई है, पाठकोंको उसका दिग्दर्शन आगे चलकर कराया जायगा। यहाँपर सिर्फ़ इतना बतला देना काफ़ी है कि जब इस त्रिवर्णाचारमें मुहूर्तचिन्तामणिके पद्य और उसकी टीकाओंका गद्य भी पाया जाता है, तब इसमें कोई भी संदेह बाकी नहीं रहता कि यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १६६० से भी पीछेका बना हुआ है।

(९) वास्तवमें, यह ग्रंथ सोमसेनत्रिवर्णाचार (धर्मरसिकशास्त्र) से भी पीछेका बना हुआ है। 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' भट्टारक सोमसेनका बनाया हुआ है *। और विक्रमसंवत् १६६५ के कार्तिक मासमें बन कर पूरा हुआ है; जैसा कि उसके निम्नलिखित पद्यसे प्रगट है :—

"अब्दे तत्त्वरसर्तुचंद्र (१६६५) कलिते श्रीविक्रमादित्यजे।
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्संभवे॥
वारे भास्वति सिद्धनामनि तथा योगे सुपूर्णातिथौ।
नक्षत्रेऽश्विनिनाम्नि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः॥ १२-२१६॥

* इस सोमसेनत्रिवर्णाचारकी परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेख द्वारा की जायगी।
—लेखक।

जिनसेन-त्रिवर्णाचारमें 'सोमसेनत्रिवर्णाचार' प्रायः ज्योंका त्यों उठाकर रक्खा हुआ है। कई पर्व इस ग्रंथमें ऐसे हैं जिनमें सोमसेन त्रिवर्णाचारके अध्याय मंगलाचरणसहित ज्योंके त्यों नकल किये गये हैं। सोमसेनत्रिवर्णाचारकी श्लोकसंख्या, उसी ग्रंथमें, अन्तिम पद्यद्वारा, दो हजार सातसौ (२७००) श्लोक प्रमाण वर्णन की है। इस संख्यामेंसे सिर्फ ७२ पद्य छोड़े गये हैं और बीस बाईस पद्योंमें कुछ थोड़ासा नामादिकका परिवर्तन किया गया है, शेष कुल पद्य जिनसेनत्रिवर्णाचारमें ज्योंके त्यों, जहाँ जब जीमें आया, नकल कर दिये हैं।

सोमसेनत्रिवर्णाचारमें, प्रत्येक अध्यायके अन्तमें, सोमसेन भट्टारकने पद्यमें अपना नाम दिया है। इन पद्योंको जिनसेनत्रिवर्णाचारके कर्ताने कुछ कुछ बदल कर रक्खा है। जैसा कि नीचेके उदाहरणोंसे प्रगट होता है:—

(१) "धन्यः स एव पुरुषः समतायुतो यः ।
प्रातः प्रपश्यति जिनेंद्रमुखारविन्दम् ॥
पूजासु दानतपसि स्पृहणीयचित्तः ।
सेव्यः सदस्तु नृसुरैर्मुनिसोमसेनैः ॥
(सोमसेन त्रि० अ० १ श्लो० ११६)

जिनसेनत्रिवर्णाचारके दूसरे पर्वमें यही पद्य नम्बर ९२ पर दिया है, सिर्फ 'मुनिसोमसेनैः' के स्थानमें 'मुनिजैनसेनैः' बदला हुआ है।

(२) शौचाचारविधिः शुचित्वजनकः प्रोक्तो विधानागमे
पुंसां सद्व्रतधारिणां गुणवतां योग्यो युगेऽस्मिन्कलौ ॥
श्रीभट्टारकसोमसेनमुनिभिः स्तोकोऽपि विस्तारतः
नायः क्षत्रियवैश्यविप्रमुखकृत् सर्वत्र शूद्रोऽप्रियः ॥
(सोम० त्रि० अ० २ श्लो० ११५)

जिनसेनत्रिवर्णाचारमें यही पद्य तीसरे पर्वके अन्तमें दिया है। केवल '**सोमसेन**' के स्थानमें उसीके वजनका '**जैनसेन**' बनाया गया है। 'इसी प्रकार नामसूचक सभी पद्योंमें 'सोमसेन' की जगह '**जैनसेन**' का परिवर्तन किया गया है। 'किसी भी पद्यमें '**जिनसेन**' ऐसा नाम नहीं दिया है। जिनसेनत्रिवर्णाचारमें कुल १८ पर्व हैं और सोमसेनत्रिवर्णाचारके अध्यायोंकी संख्या १३ है। पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिनसेनत्रिवर्णाचारके इन १८ पर्वोंमेंसे जिन १३ पर्वोंमें सोमसेनत्रिवर्णाचारके १३ अध्यायोंकी प्रायः नकल की गई है, उन्हीं १३ पर्वोंके अन्तमें ऐसे पद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रंथकर्ताका नाम 'सोमसेन' के स्थानमें 'जैनसेन' दिया है; अन्यथा शेष पांच पर्वोंमें—जो सोमसेन त्रिवर्णाचारसे अधिक हैं—कहीं भी ग्रंथकर्ताका नाम नहीं है।

सोमसेन भट्टारकने, अपने त्रिवर्णाचारमें, अनेक स्थानों पर यह प्रगट किया है कि मेरा यह कथन श्रीब्रह्मसूरिके वचनानुसार है—उन्हींके ग्रंथोंको देखकर यह लिखा गया है। जैसा कि निम्नलिखित पद्योंसे प्रगट होता है:—

"श्रीब्रह्मसूरिर्द्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः।
वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥
(सोम० त्रि० ३-१४९)

"कर्म प्रतीतिजननं गृहिणां यदुक्तं,श्रीब्रह्मसूरिवरविप्रकवीश्वरेण।
सम्यक् तदेव विधिवत्प्रविलोक्य सूक्तं, श्रीसोमसेनमुनिभिः
शुभमंत्रपूर्वम्॥" (सो० त्रि० अ० ५ श्लोक० अन्तिम)
विवाहयुक्तिः कथिता समस्ता संक्षेपतः श्रावकधर्ममार्गात्।
श्रीब्रह्मसूरिप्रथितं पुराणमालोक्य भट्टारकसोमसेनैः॥
(सोम० त्रि० ११-२०४)

वास्तवमें सोमसेनत्रिवर्णाचारमें '¹ ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार ' से बहुत कुछ लिया गया है और जो कुछ उठाकर या परिवर्तित करके रक्खा गया है, वह सब जिनसेनत्रिवर्णाचारमें भी उसी क्रमसे मौजूद है। बल्कि इस त्रिवर्णाचारमें कहीं कहीं पर सीधा ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचारसे भी कुछ मजमून उठाकर रक्खा गया है, जो सोमसेन त्रिवर्णाचारमें नहीं था; जैसा कि छठे पर्वमें ' यंत्रलेखनविधि ' इत्यादि। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जिनसेनत्रिवर्णाचारमें उपर्युक्त तीनों पद्योंको इस प्रकारसे बदल कर रक्खा है:—

" श्रीगौतमर्षिर्द्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः।
वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिजैनसेनैः॥
(पर्व ४ श्लो० अन्तिम)

कर्म प्रतीतिजननं गृहिणां यदुक्तं श्रीगौतमर्षिगणविप्रकवीश्वरेण।
सम्यक् तदेव विधिवत्प्रविलोक्य सूक्तं श्रीजैनसेनमुनिभिः शुभ-मंत्र पूर्वम्। (पर्व ७ श्लो० अन्तिम)

विवाहयुक्तिः कथिता समस्ता संक्षेपतः श्रावकधर्ममार्गात्।
श्रीगौतमर्षिप्रथितं पुराणमालोक्य भट्टारकजैनसेनैः॥ "
(पर्व १५ श्लो. अन्तिम)

इन तीनों पद्योंमें सोमसेनके स्थानमें ' जैनसेन'का परिवर्तन तो वही है, जिसका ज़िकर पहले आ चुका है। इसके सिवाय 'श्रीब्रह्मसूरि 'के स्थानमें ' गौतमर्षि ' ऐसा विशेष परिवर्तन किया गया है। यह विशेष परिवर्तन क्यों किया गया और क्यों ' ब्रह्मसूरि ' का नाम उड़ाया गया है, इसके विचारका इस समय अवसर नहीं है। परन्तु ग्रंथकर्ताने इस परिवर्तनसे इतना ज़रूर सूचित किया है कि मैंने श्रीगौतमस्वामीके

---

१ अवसर मिलने पर, इस ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचारकी परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेखद्वारा की जायगी। —लेखक।

किसी ग्रंथ या पुराणको देखकर इस त्रिवर्णाचारके ये तीनों पर्व लिखे हैं। श्रीगौतमस्वामीका बनाया हुआ कोई भी ग्रंथ जैनियोंमें प्रसिद्ध नहीं है। श्रीभूतबलि आदि आचार्योंके समयमें भी,—जिस वक्त ग्रंथोंके लिखे जानेका प्रारंभ होना कहा जाता है—गौतम स्वामीका बनाया हुआ कोई ग्रंथ मौजूद न था और न किसी प्राचीन आचार्यके ग्रंथमें उनके बनाये हुए ग्रंथोंकी कोई सूची मिलती है। हाँ, इतना कथन जरूर पाया जाता है कि उन्होंने **द्वादशांगसूत्रोंकी** रचना की थी। परन्तु वे सूत्र भी लगभग दो हज़ार वर्षका समय हुआ तब लुप्त हुए कहे जाते हैं। फिर नहीं मालूम जिनसेन त्रिवर्णाचारके कर्ताको गौतमस्वामीके बनाये हुए कौनसे गुप्त ग्रंथसे साक्षात्कार हुआ था, जिसके आधार पर उन्होंने यह त्रिवर्णाचार या इसका ४ था, ७ वाँ और १५ वाँ पर्व लिखा है। इन पर्वोंको तो देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि इनमें आदिपुराण, पद्मपुराण, एकीभावस्तोत्र, तत्त्वार्थसूत्र, पद्मनंदिपंचविंशतिका, नित्यमहाद्योत, जिन-संहिता और ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचारादिक तथा अन्यमतके बहुतसे ग्रंथोंके गद्यपद्यकी एक विचित्र खिचड़ी पकाई गई है। अस्तु; परिवर्तनादिककी इन सब बातोंसे साफ़ ज़ाहिर है कि यह ग्रंथ सोमसेनत्रिवर्णाचारसे अर्थात् विक्रमसंवत् १६६५ से भी पीछेका बना हुआ है। वास्तवमें, ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथकर्ताने सोमसेनत्रिवर्णाचारको लेकर और उसमें बहुतसा मज़मून इधर उधरसे मिलाकर उसका नाम '**जिनसेनत्रिवर्णाचार**' रख दिया है। अन्यथा, जिनसेन त्रिवर्णाचारके कर्ता महाशयमें एक भी स्वतंत्र श्लोक बनानेकी योग्य-ताका अनुमान नहीं होता। यदि उनमें इतनी योग्यता होती, तो क्या वे पाँच पर्वोंमेंसे एक भी पर्वके अन्तमें अपने नामका कोई पद्य न देते और मंगलाचरण भी दूसरे ही ग्रंथसे उठाकर रखते? कदापि नहीं। उन्हें सिर्फ़ दूसरोंके पद्योंमें कुछ नामादिका परिवर्तन करना ही आता

था और वह भी यद्वा तद्वा। यही कारण है कि वे १३ पर्वोंके अन्तिम काव्योंमें 'सोमसेन' के स्थानमें 'जैनसेन' ही बदलकर रख सके हैं। 'जिनसेन'का बदल उनसे कहीं भी न हो सका। यहाँ पर जिनसेनत्रिवर्णाचारके कर्ताकी योग्यताका कुछ और भी दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों पर उनकी सारी क़लई खुल जायगी:-

(क) जिनसेन त्रिवर्णाचारके प्रथम पर्वमें ४५१ पद्य हैं। जिनमेंसे आदिके पाँच पद्योंको छोडकर शेष कुल पद्य (४४६ श्लोक) भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराणसे लेकर रक्खे गये हैं। ये ४४६ श्लोक किसी एक पर्वसे सिलसिलेवार नहीं लिये गये हैं, किन्तु अनेक पर्वोंसे कुछ कुछ श्लोक लिये गये हैं। यदि जिनसेनत्रिवर्णाचारके कर्तामें कुछ योग्यता होती, तो वे इन श्लोकोंको अपने ग्रंथमें इस ढंगसे रखते कि जिससे मज़मूनका सिलसिला (क्रम) और संबंध ठीक ठीक बैठ जाता। परन्तु उनसे ऐसा नहीं हो सका। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि वे उठाकर रक्खे हुए इन श्लोकोंके अर्थको भी अच्छी तरह न समझते थे। उदाहरणके तौर पर कुछ श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

ततो युगान्ते भगवान्वीरः सिध्दार्थनन्दनः।
विपुलाद्रिमलं कुर्वन्नेकदास्ताखिलार्थदृक् ॥ ६ ॥
अथोपसृत्य तत्रैनं पश्चिमं तीर्थनायकम्।
पप्रच्छामुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥ ७॥
तं प्रत्यनुग्रहं भर्तुरवबुध्य गणाधिपः।
पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्ववोचत्स गौतमः ॥ ८ ॥
अत्रान्तरे पुराणार्थकोविदं वदतां वरम्।
पप्रच्छुर्मुनयो नम्रा गौतमं गणनायकम् ॥ ९ ॥
भगवन्भारते वर्षे भोगभूमिस्थितिच्युतौ।
कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रसृतायां यथायथम् ॥ १० ॥

तदा कुलधरोत्पत्तिस्त्वया प्रागेव वर्णिता।
नाभिराजश्च तत्रान्त्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणीः॥ ११॥

इन श्लोकोंमेंसे श्लोक नं० ६ मंगलाचरणके बादका सबसे पहला श्लोक है। इसीसे ग्रंथके कथनका प्रारंभ किया गया है। इस श्लोकमें 'ततो' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'उसके अनन्तर'; परन्तु उसके किसके? ऐसा इस ग्रंथसे कुछ भी मालूम नहीं होता। इस लिए यह श्लोक यहाँपर असम्बद्ध है। इसका 'ततो' शब्द बहुतही खटकता है। आदिपुराणके प्रथम पर्वमें इस श्लोकका नम्बर १९६ है। वहाँ पर इससे पहले कई श्लोकोंमें महापुराणके अवतारका-कथासम्बंधका-सिलसिलेवार कथन किया गया है। उसीके सम्बन्धमें यह श्लोक तथा इसके बादके दो श्लोक नं० ७ और ८ थे।

अन्तके तीनों श्लोक (नं० ९-१०-११) आदिपुराणके १२ वें पर्वके हैं। उनका पहले तीनों श्लोकोंसे कुछ सम्बंध नहीं मिलता। श्लोक नं. ९ में 'अत्रान्तरे' ऐसा पद इस बातको बतला रहा है कि गौतमस्वामी कुछ कथन कर रहे थे जिसके दरम्यानमें मुनियोंने उनसे कुछ सवाल किया है। वास्तवमें आदिपुराणमें ऐसा ही प्रसंग था। वहाँ ११ वें पर्वमें वज्रनाभिका सर्वार्थसिद्धिगमन वर्णन करके १२ वें पर्वके प्रथम श्लोकमें यह प्रस्तावना की गई थी कि अब वज्रनाभिके स्वर्गसे पृथ्वी पर अवतार लेने आदिका वृत्तान्त सुनाया जाता है। उसके बाद दूसरे नम्बर पर फिर यह श्लोक नं. ९ दिया था। परन्तु यहाँ पर वज्रनाभिके सर्वार्थसिद्धगमन आदिका वह कथन कुछ भी न लिखकर, एकदम १०-११ पर्व छोड़कर १२ वें पर्वके इस श्लोक नं० २ से प्रारंभ करके ऐसे कई श्लोक विना सोचे समझे नकल कर डाले हैं जिनका मेल पहले श्लोकोंके साथ नहीं मिलता। अन्तके ११ वें श्लोकमें 'त्वया प्रागेव वर्णिता' इस पदके द्वारा यह प्रगट किया गया है कि कुलकरोंकी उत्पत्तिका वर्णन इससे पहले दिया जा चुका

है। आदिपुराणमें ऐसा है भी परन्तु इस ग्रंथमें ऐसा नहीं किया गया; इस लिए यहाँ रक्खा हुआ यह श्लोक त्रिवर्णाचारके कर्ताकी साफ़ मूढ़ता ज़ाहिर कर रहा है।

"देवाद्य यामिनीभागे पश्चिमे सुखनिद्रिता।
अद्राक्षं षोडशस्वप्नानिमानत्यद्भुतोदयान् ॥ ७३ ॥
वदेतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते।
अपूर्वदर्शनात्कस्य न स्यात्कौतुकवन्मनः ॥ ७४ ॥

इन दोनों श्लोकोंमेंसे पहले श्लोकमें 'इमान्' शब्दद्वारा आगे स्वप्नोंके नामकथनकी सूचना पाई जाती है। और दूसरे पद्यमें '**एतेषां**' शब्दसे यह ज़ाहिर होता है कि उन स्वप्नोंका नामादिक कथन कर दिया गया; अब फल पूछा जाता है। परन्तु इन दोनों श्लोकोंके मध्यमें १६ स्वप्नोंका नामोल्लेख करनेवाले कोई भी पद्य नहीं हैं। इससे ये दोनों पद्य परस्पर असम्बन्ध मालूम होते हैं। आदिपुराणके १२ वें पर्वमें इन दोनों श्लोकोंका नम्बर क्रमशः १४७ और १५२ है। इनके मध्यमें वहाँ पाँच पद्य और दिये हैं; जिनमें १६ स्वप्नोंका विवरण है। ग्रंथकर्ताने उन्हें छोड़ तो दिया, परन्तु यह नहीं समझा कि उनके छोड़नेसे ये दोनों श्लोक भी परस्पर असम्बन्ध हो गये हैं।

"महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजनः।
निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृताः ॥ ३३१ ॥
चक्रवर्ती तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः
महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयम् ॥ ३३२ ॥
चतुर्दशदिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥ (पूर्वार्ध) ३३३ ॥ *

* पद्य नं० ३३१ आदिपुराणके ४१ वें पर्वके श्लोक नं० ८६ के उत्तरार्ध और नं० ८७ के पूर्वार्धको मिलकर बना है। श्लोक नं० ३३२ पर्व नं० ४७ के श्लोक नं० ३३७ और ३३८ के उत्तरार्ध और पूर्वार्धोंको मिलानेसे बना है। और श्लोक नं० ३३३ का पूर्वार्ध उक्त ४७ वें पर्वके श्लोक नं० ३३८ का उत्तरार्ध है।

इन पद्योंमेंसे पहले पद्यका दूसरे पद्यसे कुछ सम्बंध नहीं मिलता। दूसरे पद्यमें '**चक्रवर्ती तमभ्येत्य**' ऐसा पद आया है, जिसका अर्थ है 'चक्रवर्ती उसके पास जाकर'। परन्तु यहाँ इस '**उस**' (तम्) शब्दसे किसका ग्रहण किया जाय, इस सम्बन्धको बतलानेवाला कोई भी पद्य इससे पहले नहीं आया है। इसलिए यह पद्य यहाँ पर बहुत भद्दा मालूम होताहै। वास्तवमें पहला पद्य आदिपुराणके ४१ वें पर्वका है, जिसमें भरत चक्रवर्तीनें दुःस्वप्नोंका फल सुनकर उनका शान्ति-विधान किया है। दूसरा पद्य आदिपुराणके ४७ वें पर्वका है और उस वक्तसे सम्बंध रखता है, जब भरतमहाराज आदीश्वरभगवान्‌की स्थितिका और उनकी ध्वनिके बन्द होने आदिका हाल सुनकर उनके पास गये थे और वहाँ उन्होंने १४ दिन तक भगवान्‌की सेवा की थी। ग्रंथकर्तानें आदीश्वरभगवान् और भरतचक्रवर्तीका इस अवसरसम्बन्धी हाल कुछ भी न रखकर एकदम जो ४१ वें पर्वसे ४७ वें पर्वमें छलाँग मारी है और एक ऐसा पद्य उठाकर रक्खा है जिसका पूर्व पद्योंसे कुछ भी सम्बंध नहीं मिलता, उससे साफ़ जाहिर है कि ग्रंथकर्ताको आदिपुराणके इन श्लोकोंको ठीक ठीक समझनेकी बुद्धि न थी।

(ख) इस त्रिवर्णाचारका दूसरा पर्व प्रारंभ करते हुए लिखा है कि—

> "**प्रणम्याथ महावीरं गौतमं गणनायकम्।**
> **प्रोवाच श्रेणिको राजा श्रुत्वा पूर्वकथानकम्॥ १॥**
> **त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं देव त्रिवर्णानां समुद्भवम्।**
> **अथेदानीं च वक्तव्यमाह्निकं कर्म प्रस्फुटम्॥ २॥**

अर्थात् राजा श्रेणिकने पूर्वकथानकको सुनकर और महावीरस्वामी तथा गौतम गणधरको नमस्कार करके कहा कि, 'हे देव, आपके प्रसादसे मैंने त्रिवर्णोंकी उत्पत्तिका हाल तो सुना; अब स्पष्ट रूपसें आह्निक कर्म (दिनचर्या) कथन करने योग्य है'। राजा श्रेणिकके इस

निवेदनका गौतम स्वामीने क्या उत्तर दिया, यह कुछ भी न बतलाकर ग्रंथकर्ताने इन दोनों श्लोकोंके अनन्तर ही, 'अथ क्रमेण सामायिकादिकथनम्, ' यह एक वाक्य दिया है और इस वाक्यके आगे यह पद्य लिखा है:—

"ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मत-
मार्तं रौद्रसधर्म्यशुक्लचरमं दुःखादिसौख्यप्रदम् ॥
पिंडस्थं च पदस्थरूपरहितं रूपस्थनामापरम्।
तेषां भिन्नचतुश्चतुर्विषयजा भेदाः परे सन्ति वै ॥ ३ ॥"

ऊपरके दोनों श्लोकोंके सम्बन्धसे ऐसा मालूम होता है कि गौतम स्वामीने इस पद्यसे आह्निक कर्मका कथन करना प्रारंभ किया है और इस पद्यमें आया हुआ 'अहं' (मैं) शब्द उन्हींका वाचक है। परन्तु इस पद्यमें ऐसी प्रतिज्ञा पाई जाती है कि मैं ज्ञानार्णव ग्रंथके अनुसार ध्यानका कथन करता हूँ। क्या गौतम स्वामीके समयमें भी ज्ञानार्णव ग्रंथ मौजूद था और आह्निक कर्मके पूछनेपर गौतम स्वामीका ऐसा ही प्रतिज्ञावाक्य होना चाहिये था? कदापि नहीं। इस लिए आदिके दोनों श्लोकोंका इस तीसरे पद्यसे कुछ भी संबंध नहीं मिलता—उपर्युक्त दोनों श्लोक बिलकुल व्यर्थ मालूम होते हैं—और इन श्लोकोंको रखनेसे ग्रंथकर्ताकी निरी मूर्खता टपकती है। यह तीसरा पद्य और इससे आगेके बहुतसे पद्य, वास्तवमें, सोमसेनत्रिवर्णाचारके पहले अध्यायसे उठाकर यहाँ रक्खे गये हैं।

(ग) इस त्रिवर्णाचारके १३वें पर्वमें संस्कारोंका वर्णन करते हुए एक स्थानपर 'अथ जातिवर्णनमाह' ऐसा लिखकर नम्बर २३ से ५९ तक ३७ श्लोक दिये हैं। इन श्लोकोंमेंसे पहला और अन्तके दो श्लोक इस प्रकार हैं:—

" शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः—
आचंडालात्तु संकीर्णा अम्बष्ठकरणादयः ॥ २३ ॥
प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया।
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात् ॥ ५८ ॥
वाच्यलिंगाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्।
साधारणः समानश्च स्युरुत्तरपदे त्वमी ॥ ५९ ॥

इन सब श्लोकोंको देकर अन्तमें लिखा है कि, 'इति जातिकथनम्'। इससे विदित होता है कि ये सब ३७ श्लोक ग्रंथकर्ताने जातिप्रकरणके समझकर ही लिखे हैं। परन्तु वस्तुतः ये श्लोक ऐसे नहीं हैं। यदि आदिके कुछ श्लोकोंको जातिप्रकरणसम्बन्धी मान भी लिया जाय, तो भी शेष श्लोकोंका तो जातिप्रकरणके साथ कुछ भी सम्बन्ध मालूम नहीं होता; जैसा कि अन्तके दोनों श्लोकोंसे प्रगट है कि एकमें 'प्रतिमा' शब्दके नाम (पर्यायशब्द) दिये हैं और दूसरेमें 'समान' शब्दके। वास्तवमें ये संपूर्ण श्लोक अमरकोश द्वितीय कांडके 'शूद्र' वर्गसे उठाकर यहाँ रक्खे गये हैं। इनका विषय शब्दोंका अर्थ है, न कि किसी खास प्रकरणका वर्णन करना। मालूम नहीं, ग्रंथकर्ताने इन अप्रासंगिक श्लोकोंको नकल करनेका कष्ट क्यों उठाया।

(घ) इस त्रिवर्णाचारके १२वें पर्वमें एक स्थान पर, 'अथ प्रसूतिस्नानं' ऐसा लिखकर नीचे लिखे दो श्लोक दिये हैं:—

" लोकनाथेन संपूज्यं जिनेंद्रपदपंकजम्।
वक्ष्ये कृतोऽयं सूत्रेषु ग्रंथं स्वर्मुक्तिदायकम् ॥ १ ॥
प्रसूतिस्नानं यत्कर्म कथितं यज्जिनागमे।
प्रोच्यते जिनसेनोऽहं शृणु त्वं मगधेश्वर ॥ २ ॥

ये दोनों श्लोक बड़े ही विचित्र मालूम होते हैं। ग्रंथकर्ताने इधर उधरसे कुछ पदोंको जोड़कर एक बड़ा ही असमंजस दृश्य उपस्थित कर

दिया है। पहले श्लोकका तो कुछ अर्थ ही ठीक नहीं बैठता,—उसके पूर्वार्धका उत्तरार्धसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता—रहा दूसरा श्लोक; उसका अर्थ यह होता है कि, 'प्रसूतिस्नान नामका जो कर्म जिनागममें कहा गया है, मैं जिनसेन कहा जाता है, हे श्रेणिक राजा तू सुन।' इस श्लोकमें 'प्रोच्यते जिनसेनोऽहं' यह पद बड़ा विलक्षण है। व्याकरणशास्त्रके अनुसार 'प्रोच्यते' क्रियाके साथ 'जिनसेनोऽहं' यह प्रथमा विभक्तिका रूप नहीं आ सकता और 'जिनसेनोऽहं' के साथ 'प्रोच्यते' ऐसी क्रिया नहीं बन सकती। इसके सिवाय जिनसेनका राजा श्रेणिकको सम्बोधन करके कुछ कहना भी नितान्त असंगत है। राजा श्रेणिकके समयमें जिनसेनका कोई अस्तित्व ही न था। ग्रंथकर्ताको शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्रका कितना ज्ञान था और किस रीतिसे उन्हें शब्दोंका प्रयोग करना आता था, इसकी सारी कलई ऊपरके दोनों श्लोकोंसे खुल जाती है। इसी प्रकारके और भी बहुतसे अशुद्ध प्रयोग अनेक स्थानोंपर पाये जाते हैं। चौथे पर्वमें, जहाँ नदियोंको अर्घ चढ़ाये गये हैं वहाँ, बीसियों जगह 'नद्यैकोऽर्घः' 'सुवर्णकूलायैकोऽर्घः' तीर्थदेवतायैकोऽर्घः' इत्यादि अशुद्ध पद दिये गये हैं; जिनसे ग्रंथकर्ताकी संस्कृत-योग्यताका अच्छा परिचय मिलता है।

(ड) इसी १२वें पर्वमें, 'प्रसूतिस्नात' प्रकरणसे पहले, मूल और अश्लेषा नक्षत्रोंकी पूजाका विधान वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा हैः—

'ॐठःठः स्वाहा' ए मंत्र भणी सर्षप तथा सुवर्णसूं अभिषेक कीजे। पाछै दिसि बांधि तंत्र भणनं 'ॐ नमो दिसि विदिसि आदिसो। ठऊ दिशउ भ्यः स्वाहा।' ए मंत्र त्रण बार भणीयं ताली ३ दीजइ। आषांड छाली भणीइं पहिलो कह्यो ते एंविधि करीनें माता पिता बाल-

कनुं हाथ दिवारी सघली वस्तनइं दान दीजे। पाछै अठावीस नक्षत्र अने नव ग्रहना मंत्र भणीइं माने खोलै वालक वैसारिये । पिता जिमणे हाथ वैसारीइं । पिताने मातानां हाथमांहि ज्वारना दाणा देईन मंत्र भणीइं । पहिलो कह्यो ते मंत्र भणीइं । ए विधि करीने माता वालकनुं हाथ दिवारी सघली वस्तुनइ दान दीजे । पूजाना करणहारनै सर्व वस्तु दीजे । पाछै 'ॐ तद्दुस्नः' ए मंत्र भणी शांति भणीइं । पाछै जिमण देईनैं वालीइ । इति मूल अश्लेषा पूजाविधि समाप्तः ।"

संस्कृत ग्रंथमें इस प्रकारकी गुजराती भाषाके आनेसे साफ़ यह मालूम होता है कि ग्रंथकर्ता महाशयको स्वयं संस्कृत बनाना न आता था और जब आपको उपर्युक्त पूजाविधि किसी संस्कृत ग्रंथमें न मिल सकी, तब आपने उसे अपनी भाषामें ही लिख डाला है । और भी दो एक स्थानों पर ऐसी भाषा पाई जाती है, जिससे ग्रंथकर्ताकी निवासभूमिका अनुमान होना भी संभव है ।

योग्यताके इस दिग्दर्शनसे, पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि जिनसेन-त्रिवर्णाचारके कर्त्ताको एक भी स्वतंत्र श्लोक बनाना आता था कि नहीं ।

यहाँ तकके इस समस्त कथनसे यह तो सिद्ध हो गया कि यह ग्रंथ (जिनसेनत्रिवर्णाचार) आदिपुराणके कर्ता भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ नहीं है और न हरिवंशपुराणके कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे और चौथे जिनसेनका ही बनाया हुआ है । बल्कि सोमसेनत्रिवर्णाचारसे बादका अर्थात् विक्रमसंवत् १६६५ से भी पीछेका बना हुआ है । साथ ही ग्रंथकर्ताकी योग्यताका भी कुछ परिचय मिल गया । परन्तु यह ग्रंथ वि० सं० १६६५

से कितने पीछेका बना हुआ है और किसने बनाया है, इतना सवाल अभी और बाकी रह गया है।

जैनसिद्धान्तभास्करद्वारा प्रकाशित हुई और पुष्करगच्छसे सम्बन्ध रखनेवाली **सेनगणकी पट्टावलीको** देखनेसे मालूम होता है कि भट्टारक **श्रीगुणभद्रसूरिके** पट्ट पर एक 'सोमसेन' नामके भट्टारक हुए हैं। सोमसेनत्रिवर्णाचारमें भट्टारक सोमसेन भी अपनेको पुष्करगच्छमें गुणभद्रसूरिके पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए बतलाते हैं। इससे पट्टावली और त्रिवर्णाचारके कथनकी समानता पाई जाती है। अर्थात् यह मालूम होता है कि पट्टावलीमें गुणभद्रके पट्ट पर जिन सोमसेन भट्टारकके प्रतिष्ठित होनेका कथन है उन्हींका 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' बनाया हुआ है। इन सोमसेनके पट्ट पर उक्त पट्टावलीमें **जिनसेन भट्टारकके** प्रतिष्ठित होनेका कथन किया गया है। हो सकता है कि जिनसेनत्रिवर्णाचार उन्हीं सोमसेन भट्टारकके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले जिनसेन भट्टारकका निर्माण किया हुआ हो और इस लिए विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके अंतमें या १८ वीं शताब्दीके आरंभमें इस ग्रंथका अवतार हुआ हो। परन्तु पट्टावलीमें उक्त जिनसेन भट्टारककी योग्यताका परिचय देते हुए लिखा है कि, वे महामोहान्धकारसे ढके हुए संसारके जनसमूहोंसे दुस्तर कैवल्य मार्गको प्रकाश करनेमें दीपकके समान थे और बड़े दुर्धर्ष नैय्यायिक, कणाद, वैय्याकरणरूपी हाथियोंके कुंभोत्पाटन करनेमें लम्पट बुद्धिवाले थे, इत्यादि। यथाः—

"**तत्पट्टे महामोहान्धकारतमसोपगूढभुवनभवलग्नजनताभिदुस्तरकैवल्यमार्गप्रकाशकदीपकानां, कर्कशतार्किककणादवैय्याकरणबृहत्कुंभिकुंभपाटनलम्पटधियां निजस्वस्याचरणंकणखंजायिनचरणयुगादेकाणां श्रीमद्भट्टारकवंर्यसूर्यश्रीजिनसेनभट्टारकाणाम्** ॥ ४८ ॥"

यदि जिनसेन भट्टारककी इस योग्यतामें कुछ भी सत्यता है तो कहना होगा कि यह ‘ जिनसेन त्रिवर्णाचार ’ उनका बनाया हुआ नहीं है। क्योंकि जिनसेनत्रिवर्णाचारके कर्ताकी योग्यताका जो दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, उससे मालूम होता है कि वे एक बहुत मामूली, अदूरदर्शी और साधारण बुद्धिके आदमी थे। और यदि सोमसेन भट्टारकके पट्ट-पर प्रतिष्ठित होनेवाले जिनसेन भट्टारककी, वास्तवमें, ऐसी ही योग्यता थी जैसी कि जिनसेनत्रिवर्णाचारसे ज़ाहिर है—पट्टावलीमें दी हुई योग्यता नितान्त असत्य है—तो कह सकते हैं कि उन्हीं भट्टारकजीने यह जिनसेनत्रिवर्णाचार बनाया है। परन्तु फिर भी इतना ज़रूर कहना होगा कि उन्होंने सोमसेन भट्टारकके पट्ट पर होनेवाले जिनसेन भट्टारककी हैसियतसे इस ग्रंथको नहीं बनाया है। यदि ऐसा होता तो वे इस ग्रंथमें कमसे कम अपने गुरु या पूर्वज सोमसेन भट्टारकका ज़रूर उल्लेख करते, जैसा कि आम तौर पर सब भट्टारकोंने किया है। और साथ ही उन पद्योंमेंसे ब्रह्मसूरिका नाम उड़ाकर उनके स्थानमें ‘ गौतमर्षि ’ न रखते जिनको उनके पूर्वज सोमसेनने बड़े गौरवके साथ रक्खा था; बल्कि अपना कर्तव्य समझकर ब्रह्मसूरिके नामके साथ सोमसेनका नाम भी और अधिक देते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे ज़ाहिर है कि यह ग्रंथ उक्त भट्टारककी हैसियतसे नहीं बना है। बहुत संभव है कि जिनसेनके नामसे किसी दूसरे ही व्यक्तिने इस ग्रंथका निर्माण किया हो; परन्तु कुछ भी हो,—भट्टारक जिनसेन इसके विधाता हों या कोई दूसरा व्यक्ति—इसमें सन्देह नहीं कि, जिसने भी इस त्रिवर्णाचारका सम्पादन किया है, उसका ऐसा आभिप्राय ज़रूर रहा है कि यह ग्रंथ सोमसेन और ब्रह्मसूरिके त्रिवर्णाचारोंसे पहला, प्राचीन और अधिक प्रामाणिक समझा जाय। यही कारण है जो उसने सोमसेन त्रिवर्णाचारके अनेक पद्योंमेंसे ‘ब्रह्मसूरि’ का नाम उड़ाकर उसके स्थानमें

गौतमस्वामीका गीत गाया है और सोमसेन त्रिवर्णाचारका-जिसकी अपने इस ग्रंथमें नकल ही नकल कर डाली है-नाम तक भी नहीं लिया है। इसी प्रकार एक स्थानपर पं० आशाधरजीका नाम भी उड़ाया गया है; जिसका विवरण इस प्रकार है:—

सोमसेनत्रिवर्णाचारके १०वें अध्यायमें निम्नलिखित चार पद्य पंडित आशाधरके हवालेसे 'अथाशाधरः' लिखकर उद्धृत किये गये हैं। यथा:-

"अथाशाधरः—

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे॥ १४६॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा।
मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात्॥ १४७॥
निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक्॥ १४८॥
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम्।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत्॥ १४९॥

जिनसेनत्रिवर्णाचारके १४वें पर्वमें सोमसेनत्रिवर्णाचारके दसवें अध्यायकी मंगलाचरणसहित नकल होनेसे ये चारों पद्य भी उसमें इसी क्रमसे दर्ज हैं। परन्तु इनके आरंभमें 'अथाशाधरः' के स्थानमें 'अथ समंतभद्रः' लिखा हुआ है। वास्तवमें ये चारों पद्य पं० आशाधर-विरचित 'सागारधर्मामृत' के ७ वें अध्यायके हैं; जिसमें इनके नम्बर क्रमशः ४०, ४१, ४२, ४३ हैं। श्रीसमंतभद्रस्वामी के ये वचन नहीं हैं। स्वामी समंतभद्रका अस्तित्व विक्रमकी दूसरी शताब्दीके लगभग माना जाता है। और पं० आशाधरजी विक्रमकी १३ वीं शताब्दीमें हुए हैं। मालूम होता है कि जिनसेन त्रिवर्णाचारके बनानेवालेने इसी भयसे 'आशाधर' की जगह 'समंतभद्र' का नाम

बदला है कि, कहीं आशाधरका नाम आजानेसे उसका यह ग्रंथ आशाधरसे पीछेका बना हुआ अर्वाचीन और आधुनिक सिद्ध न हो जाय। यहाँ पर पाठकोंके हृदयमें स्वभावतः यह सवाल उत्पन्न हो सकता है कि ग्रंथकर्ताको समंतभद्रस्वामीका झूठा नाम लिखनेकी क्या जरूरत थी, वह वैसे ही आशाधरका नाम छोड़ सकता था। परन्तु ऐसा सवाल करनेकी जरूरत नहीं है। वास्तवमें ग्रंथकर्ताको अपने घरकी इतनी अकल ही नहीं थी। उसने जहाँसे जो वाक्य उठाकर रक्खे हैं, उनको उसी तरहसे नकल कर दिया है। सिर्फ जो नाम उसे अनिष्ट मालूम हुआ, उसको बदल दिया है और जहाँ कहीं उसकी समझमें ही नहीं आया कि यह 'नाम' है, वह ज्यों का त्यों रह गया है। इसके सिवाय ग्रंथकर्ताके हृदयमें इस बातका ज़रा भी भय न था कि कोई उसके ग्रंथकी जाँच करनेवाला भी होगा या कि नहीं। वह अज्ञानान्धकारसे व्याप्त जैनसमाज पर अपना स्वच्छंद शासन करना चाहता था। इसीलिए उसने आँख बन्द करके अंधाधुंध, जहाँ जैसा जीमें आया, लिख दिया है। पाठकों पर, आगे चलकर, इसका सब हाल खुल जायगा और यह भी मालूम हो जायगा कि इस त्रिवर्णाचारका कर्ता जैन समाजका कितना शत्रु था। यहाँ पर इस समय सिर्फ इतना और प्रगट किया जाता है कि इस त्रिवर्णाचारके चौथे पर्वमें एक संकल्प मंत्र दिया है, जिसमें संवत् १७३१ लिखा है। वह संकल्प मंत्र इस प्रकार है:—

"ओं अथ त्रैकाल्यतीर्थपुण्यप्रवर्तमाने भूलोके भुवनकोशे मध्यमलोके अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमदादिब्रह्मणो मते जम्बूद्वीपे तत्पुरो मेरोर्दक्षिणे भारतवर्षे आर्यखंडे एतदवसर्पिणीकालावसानप्रवर्तमाने कलियुगाभिधानपंचमकाले प्रथमपादे श्रीमहति महावीरवर्द्धमानतीर्थकरोपदिष्टसद्धर्मव्यतिकरे श्रीगौतम-

स्वामिप्रतिपादितसन्मार्गप्रवर्तमाने श्रीश्रेणिकमहामंडलेश्वरसमाचरितसन्मार्गविशेषे संम्वत् १७३१ प्रवर्तमाने अ० संवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे........."

मालूम होता है कि यह संकल्पमंत्र किसी ऐसी याद्दाश्त (स्मरण-पत्र) परसे उतारा गया है, जिसमें तत्कालीन व्यवहारके लिए किसीने संवत् १७३१ लिख रक्खा था। नक़ल करते या कराते समय ग्रंथकर्ताको इस संवत्के बदलनेका कुछ ख़याल नहीं रहा और इस लिए वह बराबर ग्रंथमें लिखा चला आता है। कुछ भी हो, इस सम्वत्से इतना पता ज़रूर चलता है कि यह ग्रंथ वि० संवत् १६६५ ही नहीं, बल्कि संवत् १७३१ से भी पीछेका बना हुआ है। जहाँ तक मैंने इस विषय पर विचार किया है, मेरी रायमें यह ग्रंथ विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीके अन्तका या उससे भी कुछ बादका बना हुआ मालूम होता है।

[२]

इस त्रिवर्णाचारका विधाता चाहे कोई हो, परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि, जिसने इस ग्रन्थका निर्माण किया है वह अवश्य ही कोई धूर्त व्यक्ति था। ग्रंथमें स्थान स्थान पर उसकी धूर्तताका ख़ासा परिचय मिलता है। यहाँ पाठकोंके संतोषार्थ, ग्रंथकर्ताकी इसी धूर्तताका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रंथकर्ताकी सारी असलियत खुल जायगी और साथ ही यह भी मालूम हो जायगा कि यह त्रिवर्णाचार कोई जैनग्रंथ हो सकता है या कि नहीं:-

(१) हिन्दूधर्मशास्त्रोंमें 'याज्ञवल्क्यस्मृति' नामका एक ग्रंथ है और इस ग्रंथपर विज्ञानेश्वरकी बनाई हुई '**मिताक्षरा**' नामकी एक प्राचीन टीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'मिताक्षरा' हिन्दूधर्मशास्त्रका प्रधान अंग है और अदालतोंमें इसका प्रमाण भी माना जाता है। जिनसेन त्रिवर्णाचारके १३ वें पर्वमें इस याज्ञवल्क्यस्मृतिके

पहले अध्यायका चौथा प्रकरण; जिसका नाम 'वर्ण-जाति-विवेक-प्रकरण' है; मिताक्षरा टीकासहित ज्योंका त्यों उठाकर नहीं किन्तु चुराकर रक्खा गया है *। इस प्रकरणमें मूल श्लोक सात हैं; शेष बहुतसा गद्यभाग उनकी पृथक् पृथक् टीकाओंका है। नमूनेके तौरपर इस प्रकरणका पहला और अन्तिम श्लोक तथा पहले श्लोककी टीकाका कुछ अंश नीचे प्रगट किया जाता है:—

"सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायंते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः॥
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पंचमे सप्तमेऽपि वा।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्॥"

"सवर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मण्यादिषु सजातयः मातृ-पितृ-समान-जातीयाः पुत्रा भवंति, 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' इति सर्वशेषत्वेनोपसंहारात्। विन्नासु सवर्णास्विति संवध्यते विन्नाशब्दस्य...।"

जिनसेन त्रिवर्णाचारमें इन श्लोकोंका कोई नम्बर नहीं दिया है और न टीकाको 'टीका' या 'अर्थ' इत्यादि ही लिखा है। बल्कि एक सरड़ा नकल कर डाली है। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें इन दोनों श्लोकोंके नम्बर क्रमशः ९० और ९६ हैं। त्रिवर्णाचारके कर्ताने इस प्रकरणको उठाकर रखनेमें बड़ी ही चालाकीसे काम लिया है। याज्ञवक्ल्यस्मृति और उसकी 'मिताक्षरा' टीकाका उसने कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया, प्रत्युत इस बातकी बरावर चेष्टा की है कि ये सब वचन उसके और प्राचीन जैनाचार्योंके ही समझे जायँ। यही कारण है कि दूसरे श्लोकके

* सिर्फ पहले श्लोककी लम्बी चौड़ी टीकामें चार पांच पंक्तियां ऐसी हैं जो किसी दूसरे ग्रंथसे उठाकर जोड़ी गई हैं और जिनमें धृतराष्ट्र, पांडु और विदुरके क्षेत्रज (दृष्टिज) पुत्र होनेका निषेध किया गया है।

बाद उसने 'भद्रबाहु' का नाम लिखा है; जिससे आगेके वचन भद्रबाहुस्वामीके समझ लिए जायँ। परन्तु वास्तवमें वे सब वचन दूसरें श्लोककी मिताक्षरा टीकाके सिवाय और कुछ नहीं हैं। इस दूसरे श्लोककी मिताक्षरा टीकामें एक स्थानपर 'शंख' ऋषिके हवालेसे ये वाक्य दिये हुए हैं :—

"यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति। क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति। वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवति। इति शंखस्मरणम्।"

त्रिवर्णाचारके बनानेवालेने इन वाक्योंके अन्तमेंसे 'इति शंखस्मरणम्' को निकाल कर उसके स्थानमें 'इति समंतभद्र' बना दिया है, जिससे ये वचन, समंतभद्रस्वामीके समझे जायँ। इसी प्रकार छठे श्लोककी टीकामें जो 'यथाह शंखः' लिखा हुआ था, उसको बदलकर 'यथाह गौतमः' बना दिया है। यद्यपि इस प्रकारकी बहुत कुछ चालाकी और बनावट की गई है, परन्तु फिर भी ग्रंथकर्ता द्वारा इस प्रकरणकी असलियत छिपाई हुई छिप नहीं सकी। स्वयं गद्यरूप टीका इस बातको प्रगट कर रही है कि वह वैदिक धर्मसे सम्बन्ध रखती है। उसमें अनेक स्थानों पर स्मृतियोंके वचनोंका उल्लेख है और पाँचवें श्लोककी टीकामें ६ प्रकारके प्रतिलोमजोंकी वृत्तियोंके सम्बन्धमें साफ़ तौरसे 'औशनस-धर्मशास्त्र' को देखनेकी प्रेरणा की गई है, जो हिन्दूधर्मका एक प्रसिद्ध स्मृतिग्रंथ है। यथाः—

'एते च सूतवैदेहिकचांडालमागधक्षत्रायोगवाः षट्प्रतिलोमजाः एतेषां च वृत्तयः औशनसे मानवे द्रष्टव्याः।'

मालूम होता है कि 'औशनसे मानवे' इन शब्दोंसे त्रिवर्णाचारके कर्ताकी समझमें यह नहीं आ सका है कि इनमें किसी हिन्दू धर्मके ग्रंथका उल्लेख किया गया है। इसीलिए वह इन शब्दोंको बदल

नहीं सका। इसके सिवाय त्रिवर्णाचारमें इस प्रकरणका प्रारंभ इन शब्दोंके साथ किया गया है:—

" अथ परिणयनविधिमाह। तथा च क्षीरकदम्बाचार्येणोक्तम्। ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः क्षत्रियस्य तिस्रो वैश्यस्य द्वे शूद्रस्यैक इत्युक्त्वा तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम्। इदानीं कस्यां कस्मात्कः पुत्रो भवति इति विवेकमाह। "

अर्थात्—' अब परिणयन विधिको कहते हैं। जैसा (तथा) क्षीर कदम्बाचार्यने कहा है। ब्राह्मणके चार वर्णकी, क्षत्रियके तीन वर्णकी, वैश्यके दो वर्णकी और शूद्रके एक अपने ही, वर्णकी स्त्रियाँ होती हैं। यह कहकर (इत्युक्त्वा) उन स्त्रियोंमें पुत्र उत्पन्न करने चाहिएँ, यह कहा जा चुका (इत्युक्तम्)। अब किस स्त्रीमें, किसके संयोगसे, कौन पुत्र उत्पन्न होता है, इसका विचार करते हैं।'

इन वाक्योंसे पहले, इस त्रिवर्णाचारमें, ' परिणयनविधि ' का कोई ऐसा कथन नहीं आया जिसका सम्बन्ध ' तथा ' शब्दसे मिलाया जाय। इसी प्रकार ऐसा भी कोई कथन नहीं आया जिसका सम्बंध ' इत्युक्त्वा ' और ' इत्युक्तम् ' इन शब्दोंसे मिलाया जाय। ऐसी हालतमें ये सब वाक्य बिलकुल असम्बन्द्ध मालूम होते हैं और इस बातको प्रगट करते हैं कि इनमेंसे कुछ वाक्य कहींसे उठाकर रक्खे गये हैं और कुछ वैसे ही जोड़ दिये गये हैं। मिताक्षरा टीकाको देखनेसे इसका सारा भेद खुल जाता है। असलमें मिताक्षरा टीकाकारने चौथे प्रकरणका प्रारंभ करते हुए पूर्वकथनका सम्बंध और उत्तर कथनकी सूचनिका रूपसे प्रथम श्लोक (नं० ९०) के आदिमें ' ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः...' इत्यादि उपर्युक्त वाक्य दिये थे। त्रिवर्णाचारके कर्ताने उन्हें ज्योंका त्यों बिना सोचे समझे नक़ल कर दिया है और दो वाक्य वैसे ही अपनी तरफ़से और उनके पहले जोड़ दिये हैं। पहले

वाक्यमें जिस परिणयनाविधिके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है उसका पालन भी सारे प्रकरणमें कहीं नहीं किया गया। प्रकरणके अन्तमें लिखा है कि ' इति **वर्णजातिविवेकप्रकणं समाप्तम्।** '

इन सब बातोंसे साफ़ ज़ाहिर है कि यह पूरा प्रकरण याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी **मिताक्षरा** टीकासे चुराया गया है और इसमें **शंखादिकके** स्थानमें **समन्तभद्रादि** जैनाचार्योंका नाम डालकर लोगोंको धोखा दिया गया है।

(२) हिन्दूधर्मके ग्रंथोंमें, **श्रीदत्त** उपाध्यायका बनाया हुआ '**आचारादर्श**' नामका एक ग्रंथ है। यह ग्रंथ गद्यपद्यमय है; और इसमें प्रायः जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह सब हिन्दू धर्मके अनेक प्रसिद्ध शास्त्रों और ऋषिवचनोंके आधार पर, उनका उल्लेख करते हुए, किया गया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि यह ग्रंथ विषय-विभेदसे हिन्दूधर्मके प्राचीन आचार्योंके वचनोंका एक संग्रह है। इस ग्रंथमें '**शयनविधि**' नामका भी एक विषय अर्थात् प्रकरण है। जिनसेन-त्रिवर्णाचारके ११ वें पर्वमें ' शयनविधि ' का यह सम्पूर्ण प्रकरण प्रायः ज्योंका त्यों उठाकर रक्खा हुआ है। त्रिवर्णाचारके बनानेवालेने इस प्रकरणको उठाकर रखनेमें बड़ी ही घृणित चालाकीसे काम लिया है। वह ' आचारादर्श ' या उसके सम्पादकका नाम तो क्या प्रगट करता, उलटा उसने यहाँतक कूटलेखता की है कि जहाँ जहाँ इस प्रकरणमें हिन्दूधर्मके किसी ग्रंथ या ग्रंथकारका नाम था, उस सबको बदलकर उसके स्थानमें प्राचीन जैनग्रंथ या किसी प्राचीन जैनाचार्यका नाम रख दिया है। और इस प्रकार हिन्दू ग्रंथोंके प्रमाणोंको जैनग्रंथो या जैनाचार्योंके वाक्य बतलाकर सर्वसाधारणको एक बड़े भारी धोखेमें डाला है। जिनसेनत्रिवर्णाचारमें ऐसा अनर्थ देखकर हृदय विदीर्ण होता है और उन जैनियोंकी हालत पर बड़ी ही करुणा आती है जो ऐसे

ग्रंथोंको भी जैनग्रंथ मानते हैं। अतः यहाँ पर ग्रंथकर्ताके इस घृणित कृत्यके नमूने यत्किंचित् विस्तारके साथ दिखलाये जाते हैं:—

आचारादर्शमें, 'शयनविधि' का आरंभ करते हुए, 'तत्र विष्णुपुराणे' ऐसा लिखकर निम्नलिखित तीन श्लोक दिये हैं:—

"कृतपादादिशौचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेदस्फुटितां शय्यामपि दारुमयीं नृप॥
नाविशालां न वा भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यां त्वधितिष्ठेदनास्तृताम्॥
प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम्॥"

जिनसेनत्रिवर्णाचारमें ये तीनों श्लोक इसी क्रमसे लिखे हैं। परन्तु 'तत्र विष्णुपुराणे' के स्थानमें 'श्रीभद्रबाहु उक्तं' ऐसा बना दिया है। अर्थात् त्रिवर्णाचारके कर्ताने इन वचनोंको विष्णुपुराणके स्थानमें श्रीभद्रबाहुस्वामीका बतलाया है। इन तीनों श्लोकोंके पश्चात् आचारादर्शमें 'नन्दिपुराणे' ऐसा नाम देकर यह श्लोक लिखा है:—

"नमो नन्दीश्वरायेति प्रोक्त्वा यः सुप्यते नरः।
तस्य कूष्माण्डराजभ्यो न भविष्यति वै भयम्॥"

इस श्लोकके पश्चात् 'अत्र हारीतः' ऐसा नाम देकर एक श्लोक और लिखा है और फिर 'अत्र शंखलिखितौ' यह दो नामसूचक पद देकर कुछ गद्य दिया है। आचारादर्शके इसी क्रमानुसार ये सब श्लोक गद्यसहित जिनसेनत्रिवर्णाचारमें भी मौजूद हैं, परन्तु 'नन्दिपुराण,' 'हारीत,' और 'शंखलिखित' इनमेंसे किसीका भी उल्लेख

---

१ इस श्लोकमें सोते समय 'नन्दीश्वरको' नमस्कार करना लिखा है। जैनियोंमें नन्दीश्वर नामका कोई देवता नहीं है। हिन्दुओंमें उसका अस्तित्व जरूर माना जाता है।

नहीं किया है । इससे त्रिवर्णाचारको पढ़ते हुए यही मालूम होता है कि ये सब श्लोक और गद्य भी भद्रबाहुस्वामीके ही वचन हैं, जिनका नाम प्रकरणके आदिमें 'श्रीभद्रबाहु उक्तं' इस पदके द्वारा दिया गया है।

इसके बाद आचारादर्शमें 'उशना:' ऐसा नाम देकर यह वाक्य लिखा है:—

"न तैलेनाभ्यक्तशिराः स्वपेत्"

जिनसेनत्रिवर्णाचारमें भी यह वाक्य उसी क्रमसे मौजूद है। परन्तु "उशना:" के स्थानमें 'भद्रबाहु' लिखा हुआ है। नहीं मालूम, ग्रंथकर्ताने यह पुनः 'भद्रबाहु' का नाम लिखनेका परिश्रम क्यों उठाया, जब कि इससे पहले मध्यमें किसी दूसरेका वचन नहीं आया था। अस्तु; आचारादर्शमें इस वाक्यके अनन्तर 'पैठीनसिः' ऐसा लिखकर एक वाक्य उद्धृत किया है। जिनसेनत्रिवर्णाचारमें भी ऐसा ही किया गया है। अर्थात् 'पैठीनसिः' शब्दको बदला नहीं है। बल्कि पूर्वोक्त वाक्योंके साथमें उसे मिलाकर ही लिख रक्खा है। इसका कारण यही मालूम होता है कि, त्रिवर्णाचारके बनानेवालेकी समझमें यह नहीं आ सका कि 'पैठीनसि' किसी हिन्दू ऋषिका नाम है और इसलिए उसने इसे पिछले या अगले वाक्यसम्बन्धी कोई शब्द समझकर ज्यों का त्यों ही रख दिया है। पैठीनसिके इस वाक्यके पश्चात् आचारादर्शमें, क्रमशः विष्णु, आपस्तम्ब, विष्णुपुराण, और बृहस्पतिके हवालेसे कुछ गद्यपद्य देकर पराशरका यह वचन उद्धृत किया है:—

"ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
स गच्छेन्नरकं घोरं ब्रह्महेति तथोच्यते ॥"

जिनसेनत्रिवर्णाचारमें यह सारा गद्यपद्य ज्योंका त्यों मौजूद है। परन्तु विष्णु, आपस्तंव, विष्णुपुराण, वृहस्पति और पराशरके नाम बिलकुल उड़ा दिये गये हैं। इससे त्रिवर्णाचारको पढ़ते हुए ये सब वचन या तो पैठीनसिके मालूम होते हैं, या भद्रवाहुस्वामीके। परतु वास्तवमें त्रिवर्णाचारके कर्ताका अभिप्राय उन्हें भद्रवाहुके ही प्रगट करनेका मालूम होता है, पैठीनसिको तो वह समझा ही नहीं।

पराशरके उपर्युक्त वचनके पश्चात् आचारादर्शमें, दो श्लोक '**यम**' के हवालेसे, एक श्लोक '**देवल**' के नामसे और फिर दो श्लोक '**बौधायन**' के नामसे उद्धृत किये हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचारमें ये सब श्लोक इसी क्रमसे दिये हैं। परन्तु इन पाँचों श्लोकोंमें आदिके तीन श्लोक '**पुष्पदंतेनोक्तं**' ऐसा लिखकर **पुष्पदंताचार्य**के नामसे उद्धृत किये हैं और शेष बौधायनवाले दोनों श्लोकोंका '**समंतभद्र**' के नामसे उल्लेख किया है। वे पाँचों श्लोक इस प्रकार हैं:—

"**ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।**
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
भार्यामृतुमुखे यस्तु सन्निधौ नोपगच्छति।
पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते॥
यः स्वदारामृतुस्नातां स्वस्थः सन्नोपगच्छति।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भप्राप्तिं विनाश्य सः॥
त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्यां नोपगच्छति।
सतुल्यं ब्रह्महत्याया दोषमृच्छत्यसंशयम्॥
ऋतौ नोपैति यो भार्यामनृतौ यश्च गच्छति।
तुल्यमाहुस्तयोर्दोषमयोनौ यश्च सिंचति॥"

पुष्पदंत और समन्तभद्रके हवालेसे उद्धृत किये हुए इन पाँचों श्लोकोंमें और इनसे पहले श्लोकमें यह लिखा है कि 'जो कोई मनुष्य अपनी ऋतुस्नाता (मासिक धर्म होनेके पश्चात् स्नान की हुई) स्त्रीके साथ भोग नहीं करता है, वह घोर नरकमें जाता है और उसको ब्रह्म-हत्या, भ्रूणहत्या, इत्यादिका पाप लगता है इसी प्रकार जो ऋतुकालको छोड़कर दूसरे समयमें अपनी स्त्रीसे भोग करता है वह भी ऋतुकालमें भोग न करनेवालेके समान पापी होता है।' ये सब वचन जैनधर्म और जैनियोंकी कर्मफिलासोफीके बिलकुल विरुद्ध हैं और इस लिए कदापि जैनाचार्योंके नहीं हो सकते।

उपर्युक्त श्लोकोंके बाद, जिनसेन त्रिवर्णाचारमें, 'तथा च उमास्वातिः' ऐसा लिखकर, यह श्लोक दिया है:—

"षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्॥"

यह 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के पहले अध्यायके तीसरे प्रकरणका श्लोक नं० ७९ है। श्रीउमास्वाति या उमास्वामि महाराजका यह वचन नहीं है। आचारादर्शमें भी इसको याज्ञवल्क्यका ही लिखा है। इसके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचारमें उपर्युक्त श्लोककी 'मिताक्षरा' टीकाका कुछ अंश देकर याज्ञवल्क्यस्मृतिके अगले श्लोक नं० ८० का पूर्वार्ध दिया है और फिर पूज्यपादके हवालेसे 'पूज्यपादेनोक्तं' ऐसा लिखकर ये वाक्य दिये हैं:—

"बुधे च योषां न समाचरेत्।
तथा पूर्णासु योषित्परिवर्जनीया।
तथा योषिन्मघाकृत्तिकोत्तरासु।
सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान्॥"

इन वाक्योंमेंसे पहले तीन वाक्योंको आचारादर्शमें '**वामनपुराण**' के हवालेसे लिखा है और चौथे वाक्यको **याज्ञवल्क्य**का बतलाया है। चौथा वाक्य याज्ञवल्क्यस्मृतिके उपर्युक्त श्लोक नं० ८० का उत्तरार्ध है। इसके बाद इस श्लोक नं० ८० की टीकासे कुछ गद्य देकर जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, **अकलंकस्वामी**के हवालेसे यह वाक्य लिखा है:—

"लब्धाहारां स्त्रियं कुर्यादेवं संजनयेत्सुतामिति अकलंकस्मरणात्।

यह वाक्य इससे पहले भी इस 'शयनविधि' प्रकरणमें आ चुका है और आचारादर्शमें इसे '**बृहस्पति**' का लिखा है। इस वाक्यके अनन्तर, जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, 'तत्र पुष्पदंतः' ऐसा लिखकर तीन श्लोक दिये हैं, जो **मनुस्मृति**के तीसरे अध्यायमें नं० ४७, ४८ और ४९ पर दर्ज हैं। आचारादर्शमें भी उनको '**मनु**' के ही लिखा है। इन श्लोकोंके बाद कुछ गद्य देकर लिखा है कि '**इत्येतद्गौतमीयं सूत्रद्वयं**'। परन्तु यह सब गद्य याज्ञवल्क्यस्मृतिके श्लोक नं० ८० की टीकासे लिया गया है। इसके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, '**यथा माणिक्यनन्दिः**' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है:—

"यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः॥"

यह 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रथम अध्यायका ८१ वाँ श्लोक है। **परीक्षामुख**के कर्ता **श्रीमाणिक्यनन्दि** आचार्यका यह वाक्य कदापि नहीं है। इस श्लोकके पूर्वार्धका यह अर्थ होता है कि 'स्त्रियोंको जो वर दिया गया है उसको स्मरण करता हुआ यथाकामी होवे'। याज्ञवल्क्यस्मृतिकी 'मिताक्षरा' टीकामें लिखा है कि इस श्लोकमें उस '**वर**' का उल्लेख है, जो इन्द्रने स्त्रियोंको दिया था और ऐसा लिखकर वह 'वर' भी उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है:—

" भवतीनां कामाविहन्ता पातकी स्यात् इति । यथा ता अब्रुवन् वरं वृणीमहे ऋत्वियात्प्रजां विन्दामहे काममाविजनिनोः संभवाम इति । तस्मात् ऋत्वियात्स्त्रियः प्रजां विंदंति काममाविजनिनोः संभवंति वरं वृतं तासामिति । "

जिनसेनत्रिवर्णाचारामें भी इस 'वर' को इन्द्रकाही दिया हुआ वतलाया है और मिताक्षरा टीकाके अनुसार 'स्त्रीणां वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन्' ऐसा लिखकर वरके वही शब्द ज्योंके त्यों नकल कर दिये हैं जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं । इस वरका अर्थ इस प्रकार है कि:—

" जो तुह्मारी कामनाको न करेगा वह पातकी होगा—वे स्त्रियें बोलीं कि हम वरको स्वीकार करती हैं और ऋतुसे हमारे प्रजा (संतान) हो और प्रजाके होने तक कामकी चेष्टा रहे । इसी लिए स्त्रियें ऋतुसेही संतानको प्राप्त होती हैं और संतान होने तक कामचेष्टा वनी रहती है, यही स्त्रियोंका वर है । "

जैनसिद्धान्तसे थोड़ा भी परिचय रखनेवाले पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह कथन जैनसिद्धान्तके बिलकुलही विरुद्ध है । परन्तु फिर भी त्रिवर्णाचारका कर्ता, मणिक्यनन्दि जैसे प्राचीन आचार्योंको ऐसे उत्सूत्र वचनका अपराधी ठहराता है । इस धृष्टता और धूर्तताका भी कहीं कुछ ठिकाना है ! !

इस 'वर' के पश्चात्, जिनसेनत्रिवर्णाचारमें 'इन्द्रवरे काठकप्रचनं यथा' ऐसा लिखकर उपर्युक्त 'यथाकामी...' इत्यादि श्लोकके उत्तरार्धकी कुछ टीका दी है और फिर यह लिखा है कि, भोग करते समय कैसे कैसे पुत्रोंकी इच्छा करे, अर्थात् पुत्रोंकी इच्छाओंके संकल्प दिये हैं । इन संकल्पोंका कथन करते हुए एक स्थानपर लिखा है कि 'यथोक्तं जयधवले' अर्थात् जैसा 'जयधवल' शास्त्रमें कहा है ।

परन्तु ग्रंथकारका ऐसा लिखना विल्कुल मिथ्या है । **जयधवल** एक सिद्धान्त ग्रंथ है, उसका इस प्रकारका विषयही नहीं है ।

इसके वाद जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, पुत्रोंकी इस इच्छाके सिलसिलेमें, '**यथाह जिनचंद्रचूडामणौ**' ऐसा लिख कर यह श्लोक दिया है:—

> "**ऋतौ तु गर्भशंकित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।**
> **अनृतौ तु सदा कार्यं शौचं मूत्रपुरीषवत् ॥**"

आचारादर्शमें इस श्लोकको '**वृद्धशातातप**' का लिखा है और वृद्धशातातपकी स्मृतिमें यह श्लोक नं० ३३ पर दर्ज है । इस श्लोकके अनन्तर आचारादर्शमें '**गौतम**' का नामोल्लेख करके गद्यमें मैथुनी शौचका कुछ वर्णन दिया है । जिनसेनत्रिवर्णाचारमें भी '**तथा च गौतमः**' लिखकर, यह सब वर्णन उसी प्रकारसे उद्धृत किया है । यहाँ न बदलनेका कारण स्पष्ट है । जैनियोंमें 'गौतम' **महावीर** स्वामीके मुख्य गणधरका नाम है और हिन्दूधर्ममें भी 'गौतम' नामके एक ऋषि हुए हैं । नामसाम्यके कारण ही त्रिवर्णाचारके कर्ताने उसे ज्योंका त्यों रहने दिया है । अन्यथा और बहुतसे स्थानों पर उसने जान बूझकर हिन्दूधर्मके दूसरे ऋषियोंके स्थानमें '**गौतम**' का परिवर्तन किया है। त्रिवर्णाचारके कर्ताका अभिप्राय 'गौतम' से **गौतमगणधर** है । परन्तु उसे गौतमके नामसे उल्लेख करते हुए कहीं भी इस वातका ज़रा ख़याल नहीं आया कि गौतमगणधरका वनाया हुआ कोई ग्रंथ नहीं है, जिसके नामसे कोई वचन उद्धृत किया जाय; और जो **द्वादशांग** सूत्रोंकी रचना उनकी की हुई थी वह मागधी भाषामें थी, संस्कृत भाषामें नहीं थी जिसमें उनके वचन उद्धृत किये जा रहे हैं । अस्तु; गौतमके हवालेसे दिये हुए इस गद्यके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, 'तत्राह **महाधवले**' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है:—

"द्वावेतावशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ ।
शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान् ॥"

आचारादर्शमें यह श्लोक 'वृद्धशातातप' के हवालेसे उद्धृत किया है और वृद्धशातातपकी स्मृतिमें नं० ३४ पर दर्ज है। त्रिवर्णाचारके कर्ताका इस श्लोकको 'महाधवल' जैसे सिद्धान्त ग्रंथका बतलाना नितान्त मिथ्या है ।

इस श्लोकके बाद आचारादर्शके अनुसार जिनसेनत्रिवर्णाचारमें इसी विषयका कुछ गद्य दिया गया है और फिर 'अथ धवलेप्युक्तं' (धवल ग्रंथमें भी ऐसा ही कहा है) ऐसा लिखकर सात श्लोक दिये हैं । उनमेंसे पाँच श्लोकोंमें यह लिखा है कि कैसी कैसी स्त्रीसे और किस किस स्थानमें भोग नहीं करना चाहिए । शेष दो श्लोकोंमें पर्वोंके नामादिकका कथन किया है । आचारादर्शमें ये सब श्लोक विष्णुपुराणके हवालेसे उद्धृत किये हैं । त्रिवर्णाचारके कर्ताने विष्णुपुराणके स्थानमें 'अथ-धवलेप्युक्तं' ऐसा बना दिया है । इन सातों श्लोकोंमेंसे अन्तके दो श्लोक इस प्रकार हैं:—

"चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याथ पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च ॥
तैलस्त्रीमांससभोगी च पर्वस्वेतेषु यः पुमान् ।
विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं नरः ॥"

इन दोनों श्लोकोंमेंसे पहले श्लोकमें जिन 'अमावस्या' 'पूर्णिमा और 'रविसंक्रान्ति' को पर्व वर्णन किया है, वे जैन पर्व नहीं हैं; और दूसरे श्लोकमें जो यह कथन किया है कि, इन पर्वोंमें तैल, स्त्री और मांसका सेवन करनेवाला मनुष्य विष्ठा और मूत्र नामके नरकमें जाता है, वह सब जैनसिद्धान्तके विरुद्ध है । इन सब श्लोकोंके अनन्तर, जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, पात्रकेसरी (विद्यानन्द) के हवालेसे 'तथा च

पात्रकेसरिणा' लिखकर कुछ गद्य नक़ल किया है, जिसमें यह कथन है कि कैसी स्त्रीसे, कैसी हालतमें और कौन कौन स्थानोंमें मैथुन नहीं करना चाहिए। यह सब गद्य आचारादर्शमें क्रमशः वसिष्ठ और विष्णुके हवालेसे उद्धृत किया है। इस प्रकार आचारादर्श और जिनसेनत्रिवर्णाचारमें 'शयनविधि' का यह सब कथन समाप्त होता है। ऊपरके इस समस्त कथनसे, पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि जिनसेनत्रिवर्णाचारके बनानेवालेने जैनके नामको भी लज्जित करनेवाला यह कैसा घृणित कार्य किया है और किस प्रकारसे श्रीमद्भद्रबाहु, पुष्पदंत, समंतभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंकदेव, माणिक्यनन्दि और पात्रकेसरी जैसे प्राचीन आचार्यों तथा धवल, जयधवल और महाधवल जैसे प्राचीन ग्रंथोंके पवित्र नामको बदनाम करनेकी चेष्टा की है। क्या इससे भी अधिक जैनधर्म और जैनसमाजका कोई शत्रु हो सकता है? कदापि नहीं।

(३) जिनसेनत्रिवर्णाचारके १७ वें पर्वमें सूतकके चार भेदोंको वर्णन करते हुए 'आर्तव' नामके सूतकका कथन करनेकी प्रतिज्ञा इस प्रकार की गई है:—

" सूतकं स्याच्चतुर्भेदमार्तवं सौतिकं तथा।
मार्तं तत्संगजं चेति तत्रार्तवं निगद्यते ॥ ४ ॥"

इस प्रतिज्ञावाक्यके अनन्तर प्रायः गद्यमें एक लम्बा चौड़ा अशौचका वर्णन दिया है और इसी वर्णनमें यह १७ वाँ पर्व समाप्त कर दिया है। परन्तु इस सारे पर्वमें कहीं भी उपर्युक्त 'प्रतिज्ञा' का पालन नहीं किया है। अर्थात् कहीं भी 'आर्तव' नामके सूतक या अशौचका कथन नहीं किया है। इस पर्वमें कथन है 'जननाशौच' और 'मृताशौच' का जिसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई। १८ वें पर्वमें भी पुनः अशौचका वर्णन पाया जाता है। परन्तु यह वर्णन गद्यमें न देकर केवल पद्यमें किया है। इस पर्वका प्रारंभ करते हुए लिखा है कि "अथ वृत्तेन

विशेषमाशौचमाह'। अर्थात् अब पद्य द्वारा अशौचका विशेष[1] कथन किया जाता है। इस प्रतिज्ञाके बाद, १८ वें पर्वमें, निम्नलिखित तीन श्लोक दिये हैं:—

"नत्वा श्रीश्वरनाथाख्यं कृतिना मुक्तिदायकम्।
विश्वमांगल्यकर्तारं नानाग्रंथपदप्रदम्॥ १॥
ब्राह्मणक्षत्रवैश्यानां शूद्रादीनां विशेषतः।
सूतकेन निवर्तेन विना पूजा न जायते॥ २॥
रजः पुष्पं ऋतुश्चेति नामान्यस्यैव लोकतः।
द्विविधं तत्तु नारीणां प्राकृतं विकृतं भवेत्॥ ३॥

ये श्लोक परस्पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। इन श्लोकोंमेंसे पहले श्लोकमें 'श्रीईश्वरनाथ नामके व्यक्तिको नमस्कार करके' ऐसा लिखा है; परन्तु नमस्कार करके क्या करते हैं ऐसी प्रतिज्ञा कुछ नहीं दी। दूसरे श्लोकमें सूतकाचरणकी आवश्यकता प्रगट की गई है और तीसरे श्लोकमें यह लिखा है कि—रज, पुष्प और ऋतु, ये लोकव्यवहारमें इसीके नाम हैं और वह स्त्रियोंके दो प्रकारका होता है। एक प्राकृत और दूसरा विकृत। परन्तु इस श्लोकमें 'अस्यैव' (इसीके) और 'तत्' (वह) शब्दोंसे किसका ग्रहण किया जाय, इस बातको बतलानेवाला कोई भी शब्द इस १८ वें पर्वमें इससे पहले नहीं आया है। इसलिए यह तीसरा श्लोक बिलकुल बेढंगा मालूम होता है। इस तीसरे श्लोकका सम्बंध १७ वें पर्वमें दिये हुए उपर्युक्त श्लोक नं० ४ (सूतकं स्याच्चतु...) से भले प्रकार मिलता है। उस श्लोकमें जिस 'आर्तव' के कथनकी प्रतिज्ञा की गई है, उसीं आर्तवके कथनका सिलसिला इस श्लोकमें और इससे आगेके श्लोकमें पाया जाता है। असलमें

1. विशेष कथन सिर्फ इतना ही है कि इसमें 'आर्तव' नामके अशौचका भी कथन किया गया है; शेष जननाशौच और मृताशौचका कथन प्रायः पहले कथनसे मिलता जुलता है।

१७ वें पर्वका उपर्युक्त श्लोक नं० ४ और उससे पहलेके तीनों श्लोक तथा १८ वें पर्वका यह श्लोक नं० ३ और इससे आगेके कुल श्लोक **सोमसेन त्रिवर्णाचारके** १३वें अध्यायसे ज्योंके त्यों नकल किये गये हैं—जिनसेनत्रिवर्णाचारके १७ वें अध्यायके पहले चार श्लोकोंको १८ वें पर्वके तीसरे श्लोक और उससे आगेके श्लोकोंके साथ मिला देनेसे सोमसेन त्रिवर्णाचारका पूरा १३ वाँ अध्याय बन जाता है—जिनसेनत्रिवर्णाचारके कर्ताने सोमसेन त्रिवर्णाचारके १३ वें अध्यायको इस प्रकार दो भागोंमें विभाजित कर और उनके बीचमें व्यर्थ ही गद्य-पद्यमय अशौचका एक लम्बा चौड़ा प्रकरण डालकर दोनों पर्वोंमें बड़ी ही असमंजसता पैदा कर दी है। और इस असमंजसताके साथ ही एक बड़ा भारी अनर्थ यह किया है कि उक्त गद्यपद्यमय अशौच प्रकरणको प्राचीन जैनाचार्योंका बतलाकर लोगोंको धोखा दिया है। वास्तवमें यह प्रकरण किसी हिन्दूग्रंथसे लिया गया है। जिनसेनत्रिवर्णाचारके कर्ताने जिस प्रकार और कई प्रकरण हिन्दूधर्मके ग्रथोंसे उठाकर रक्खे हैं, उसी प्रकार यह प्रकरण भी किसी हिंदूग्रंथसे ज्योंका त्यों नकल किया है। हिन्दुओंके धर्मग्रंथोंमें इसप्रकारके, **आशौचनिर्णयके**, अनेक प्रकरण पाये जाते हैं, जिनमें अनेक ऋषियोंके हवालेसे विषयका विवेचन किया गया है। इस प्रकरणमें भी स्थान स्थान पर हिन्दू ऋषियोंके वचनोंका उल्लेख मिलता है। जिनसेनत्रिवर्णाचारके बनानेवालेने यद्यपि इतना छल किया है कि हिन्दू ऋषियोंके नामोंके स्थानमें **गौतम, भद्रबाहु,** और **समंतभद्रादि** प्राचीन जैनाचार्योंके नाम डाल दिये हैं और कहीं कहीं उनका नाम कृतई निकाल भी दिया है, परन्तु फिर भी ग्रंथकर्ताकी असावधानी या उसकी नासमझीके कारण कई स्थानों पर कुछ हिन्दू ऋषियोंके नाम बदलने या निकालनेसे

रह गये हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि यह प्रकरण किसी हिन्दू ग्रंथसे चुराया गया है। इस प्रकरणके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(क) जिनसेनत्रिवर्णाचारमें आशौचका यह प्रकरण प्रारंभ करते हुए '**गौतम उवाच**' ऐसा लिखकर यह वाक्य दिया है:—

"**आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पंचमषष्ठयोः।**
अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यादिति"

यह वाक्य **मरीचि** ऋषिका प्रसिद्ध है और 'आशौच निर्णय' नामके बहुतसे प्रकरणोंकी आदिमें पाया जाता है। 'स्यात्' शब्दके बाद इसका चौथा चरण है–'**दशाहं सूतकं भवेत्**'। **निर्णयसिंधु** और **मिताक्षरादि** ग्रंथोंमें भी इस वाक्यको **मरीचि** ऋषिके नामसे उद्धृत किया है। परन्तु त्रिवर्णाचारके कर्ताने इसे **गौतमस्वामीका** बतलाया है।

(ख) इस प्रकरणमें जो वाक्य विना किसी हवालेके पाये जाते हैं, उनमेंसे कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

"**पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।**
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्॥"

यह वाक्य '**पैठीनसि**' ऋषिका है। **मिताक्षरादि** ग्रंथोंके आशौचप्रकरणमें भी इसे पैठीनसिका ही लिखा है।

"**आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः।**
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः॥ १॥
पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥ २॥
मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥ ३॥"

इन तीनों श्लोकोंको ‘ स्मृतिरत्नाकर ’ आदि ग्रंथोंमें विज्ञानेश्वर-का वचन लिखा है । विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्यस्मृतिकी ‘ मिताक्षरा ’ टीकाका कर्ता है । इस प्रकरणमें, दूसरे स्थानोंपर, ‘इति विज्ञानेश्वरादय:’ ‘ इदं च सर्वं विज्ञानेश्वराद्यनुरोधेनोक्तं, ’ ‘ इति विज्ञानेश्वरः, ’ इत्यादि पदोंके द्वारा विज्ञानेश्वरके नामका उल्लेख पाया जाता है । वह बदलने या निकालनेका रह गया है ।

(ग) उपर्युक्त श्लोकोंसे थोड़ी दूर आगे चलकर, इस प्रकरकणमें, निम्न लिखित पाँच वाक्य दिये हैं । :

(१) ‘ **असपिंडस्थापि यद्गृहे मरणं तद्गृहस्वामिस्त्रिरात्र-मित्यंगिराः ।** ’

(२) ‘ **एकरात्रमिति ।** ’

(३) ‘ **तथा च गौतमः— त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत् ।** ’

(४) ‘ **प्रचेताः मातृष्वसामातुलयोश्च श्वश्रूश्वशुरयोर्गुरौ मृते चर्त्विजियाज्ये च त्रिरात्रेण विशुध्यति ।** ’

(५) ‘ **संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति गौतमः ।** ’

इन वाक्योंमें पहले नम्बरका वाक्य अंगिरा ऋषिका है । अंगिरा-का नाम भी इस वाक्यके अन्तमें मिला हुआ है । शायद इस मिलापके कारणही त्रिवर्णाचारके कर्ताको इसके बदलनेका खयाल नहीं आया । अन्यथा उसने स्वयं दूसरे स्थानपर, इसी प्रकरणमें, अंगिरा ऋषिके निम्न लिखित श्लोकको, ‘ **तथा च गौतमः** ’ लिखकर, गौतमस्वामीका बना दिया है:—

“ **यदि कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः ।**
तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया ॥ ”

दूसरे नम्बरका वचन विष्णुका है । इसके अन्तमें ‘ विष्णु ’ ऐसा नाम नहीं दिया है । यह पूरा वाक्य ‘ असपिण्डे स्ववेश्मनि मृते एक रात्रमिति ’ ऐसा है । मिताक्षरामें भी इसको विष्णुका ही लिखा है । तीसरे नम्बरका वाक्य बृहस्पतिका है जिसके स्थानमें ‘ तथा च गौतमः ’ बनाया गया है । मिताक्षरामें भी ‘ बृहस्पतिका ’ लिखा है । चौथे नम्बरका वाक्य ‘ प्रचेताः ’ नामके एक हिन्दू ऋषिका है । इसके प्रारम्भमें ‘ प्रचेता ’ ऐसा नाम भी दिया है । परन्तु मालूम होता है कि त्रिवर्णाचारके कर्ताकी समझमें यह कोई नाम नहीं आया है और इस लिए उसने इस ‘ प्रचेताः ’ को भी वाक्यके अन्तर्गत कोई शब्द समझकर ज्यों का त्यों रहने दिया है । इस वाक्यका अन्तिम भाग, ‘ मृते चर्त्विजी...’ मिताक्षरामें ‘प्रचेताके’ नामसे उल्लिखित है। पाँचवें नम्बरका वाक्य वसिष्ठ ऋषिका वचन है। इसके अन्तमें ‘धर्मो व्यवस्थितः’ इतना पद और था जिसके स्थानमें ‘ गौतमः’ बनाया है । मिताक्षरामें भी इसको वसिष्ठका ही वचन लिखा है ।

(घ) एक स्थानपर ‘ श्रीसमन्तभद्रः ’ ऐसा लिखकर निम्न लिखित दो श्लोक दिये हैं:—

“ प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्ध्यति ॥
त्रिरात्रे तु ततश्चीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ ”

ये दोनों श्लोक पराशर ऋषिके हैं और ‘ पाराशरस्मृति ’ में नम्बर ४७ और ४८ पर दर्ज हैं । मिताक्षरामें भी इनका पराशरके

१ यह श्लोक मिताक्षरामें भी अंगिरा ऋषिका लिखा है। वहाँ ‘ यदि ’ शब्दके स्थानमें ‘ अथ ’ दिया है ।

नामसे उल्लेख है। त्रिवर्णाचारके कर्ताका इन्हें श्रीसमंतभद्रस्वामीके बतलाना निरी धूर्तता है।

(ङ) इसी प्रकरणमें एक स्थान पर, ' विशेषमाहाकलंकः ' ऐसा लिखकर, ये दो श्लोक दिये हैं:—

" वृद्धः शौचक्रियालुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यशनाम्बुभिः॥
तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत्॥ "

ये दोनों श्लोक ' अत्रि ' ऋषिके हैं और ' अत्रिस्मृति ' में नम्बर २१४ और २१५ पर दर्ज हैं। इन श्लोकोंमें लिखा है कि ' यदि कोई वृद्ध पुरुष जिसे शौचाशौचका कुछ ज्ञान न रहा हो और वैद्योंने भी जिसकी चिकित्सा करनी छोड़ दी हो, गिरने या अग्निमें प्रवेश करने आदिके द्वारा, आत्मघात करके मर जाय तो उसके मरनेका आशौच सिर्फ़ तीन दिनका होगा। दूसरे ही दिन उसकी हड्डियोंका संचय करना चाहिए और तीसरे दिन जलदान किया करके चौथे दिन श्राद्ध करना चाहिए। ' जिनसेनत्रिवर्णाचारका कर्त्ता हिन्दूधर्मके इन वचनोंको श्रीअकलंक स्वामीके बतलाता है, यह कितना धोखा है!! इसी प्रकार और बहुतसे स्थानों पर हिन्दू ऋषियोंकी जगह **गौतम** और **समंतभद्रादिके** नामोंका परिवर्तन करके लोगोंको धोखा दिया गया है।

(४) पहले यह प्रगट किया जा चुका है कि हिन्दुओंके ज्योतिषग्रंथोंमें ' मुहूर्तचिन्तामणि ' नामका एक ग्रंथ है और उस ग्रंथ पर ' **प्रमिताक्षरा** ' और ' **पीयूषधारा** ' नामकी दो संस्कृत

१ अत्रिस्मृतिमें ' क्रियालुप्तः ' के स्थानमें ' स्मृतेर्लुप्तः ' दिया है।

टीकायें हैं । जिनसेनत्रिवर्णाचारमें इस मुहूर्तचिन्तामणि ग्रंथ और उसकी टीकाओंसे बहुतसा गद्यपद्य उठाकर ज्योंका त्यों रक्खा गया है । इस गद्यपद्यको उठाकर रखनेमें भी उसी प्रकारकी धूर्तता और चालाकीसे काम लिया गया है जिसका दिग्दर्शन पाठकोंको ऊपर कराया गया है । अर्थात् जिनसेनत्रिवर्णाचारके बनानेवालेने कहीं भी यह प्रगट नहीं किया कि उसने यह कथन 'मुहूर्तचिन्तामणि' या उसकी टीकाओंसे लिया है । प्रत्युत इस बातकी बराबर चेष्टा की है कि यह सब कथन जैनाचार्योंका ही समझा जाय । यही कारण है कि उसने अनेक स्थानों पर हिन्दू ऋषियोंके नामोंको जैनाचार्योंके नामोंके साथ बदल दिया है और कहीं कहीं हिन्दू ऋषियोंके नामकी जगह 'अन्यः' 'अन्यमतं' या 'अपरमतं' भी बना दिया है जिससे यह भी उसी सिससिलेमें जैनाचार्योंका ही मतविशेष समझा जाय । इसी प्रकार हिन्दूग्रंथोंके स्थानमें जैनग्रंथोंके नामका परिवर्तन भी किया है । इस धूर्तता और चालाकीके भी कुछ थोड़ेसे नमूने नीचे प्रगट किये जाते हैं:—

१—मुहूर्तचिन्तामणिके संस्कार प्रकरणमें, टीकाद्वारा यह प्रस्तावना करते हुए कि '**अथ प्राप्तकालत्वादक्षराणामारंभमुहूर्तं पंचचामरछंदसाह**' एक पद्य इस प्रकार दिया है:—

**"गणेशविष्णुवाग्रमाः प्रपूज्य पंचमाब्दके ।
तिथौ शिवार्कदिग्द्विषड्शरत्रिके रवावुदक् ॥
लघुश्रवो निलांत्यभादितीश तक्षमित्रभे ।
चरो न सत्तनौ शिशोर्लिपिग्रहः सतां दिने ॥ ३७ ॥"**

जिनसेनत्रिवर्णाचारके १२वें पर्वमें यह पद्य उपर्युक्त प्रस्तावनाके साथ ही दिया है । परन्तु इस पद्यको जैनमतका बनानेके लिए इसके पहले चरणमें '**गणेशविष्णु**' के स्थानमें '**जिनेशदेवि**' ऐसा परिवर्तन किया गया है और **रमा** (लक्ष्मी) का पूजन बदस्तूर रक्खा है ।

२—मुहूर्तचिन्तामणिके इसी संस्कारप्रकरणके श्लोक नं० ५४ की '**प्रमिताक्षरा**' टीकामें '**तथा च वसिष्ठः**' ऐसा लिखकर एक पद्य इस प्रकार दिया है:—

"**या चैत्रवैशाखसिता तृतीया माघस्य सप्तम्यथ फाल्गुनस्य।**
कृष्णे द्वितीयोपनये प्रशस्ता प्रोक्ता भरद्वाजमुनीन्द्रमुख्यैः॥"

जिनसेन त्रिवर्णाचारके १२ वें पर्वमें, मुहूर्तचिन्तामणिके श्लोक नं० ५४ को देकर और उसकी टीकामेंसे कुछ गद्य पद्यको नकल करते हुए, यह पद्य भी उद्धृत किया है। परन्तु उसके उद्धृत करनेमें यह चालाकी कि गई है कि '**तथा च वसिष्ठः**' की जगह '**अन्यः**' ऐसा शब्द बना दिया है और अन्तिम चरणका, '**प्रोक्ता महावीर-गणेशमुख्यैः**' इस रूपमें परिवर्तन कर दिया है, जिससे यह पद्य जैनमतका ही नहीं बल्कि **महावीर** स्वामी और **गौतमगणधरका** अथवा **महावीरके** मुख्यगणधर **गौतमस्वामीका** वचन समझा जाय। यहाँ '**तथा च वसिष्ठः**' के स्थानमें '**अन्यः**' बनानेसे पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि त्रिवर्णाचारके कर्ताका अभिप्राय इस '**अन्यः**' शब्दसे किसी अजैन ऋषिको सूचित करनेका नहीं था। यदि ऐसा होता तो वह '**भरद्वाजमुनीन्द्र**' के स्थानमें '**महावीरगणेश**' ऐसा परिवर्तन करनेका कदापि परिश्रम न उठाता। इसी प्रकार उसने और स्थानों पर भी 'अन्यः,' 'अन्यमतं' या 'अपरमतं' बनाया है।

३—उपर्युक्त श्लोक नं० ५४ की व्याख्या करते हुए, 'प्रमिताक्षरा' टीकामें, एक स्थानपर '**नैमित्तिका अनध्यायास्तु स्मृत्यर्थसारे**' ऐसा लिखकर कुछ गद्य दिया है। जिनसेन त्रिवर्णाचारमें भी वह सब गद्य ज्योंका त्यों नकल किया गया है। परन्तु उससे पहले '**नैमित्तिका अनध्याया भद्रबाहुसंहितासारे**' ऐसा लिखा है अर्थात् त्रिवर्णाचारके कर्ताने '**स्मृत्यर्थसार**' नामके एक हिन्दू ग्रंथके स्थानमें

'**भद्रबाहुसंहितासार**' ऐसा जैनग्रंथका नाम दिया है। इसी प्रकार मुहूर्तचिन्तामणिके श्लोक नं० ३९ की टीकामें 'आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' के हवालेसे कुछ गद्य दिया हुआ है। जिनसेन त्रिवर्णाचारके १३वें पर्वमें वह गद्य ज्योंका त्यों नकल किया गया है परन्तु '**आपस्तम्बगृह्यसूत्र**' के स्थानमें '**उपासकाध्ययनसार**' ऐसा नाम बदलकर रक्खा है।

४-मुहूर्तचिन्तामणि (संस्कार प्रकरण) के श्लोक नं० ४० की टीकामें नारदके हवालेसे यह वाक्य दिया है:—

"**नारदेन यत्सप्तमीत्रयोदश्याः प्राशस्त्यमुक्तं तद्वसंताभिप्रायेणेति ज्ञेयम्**"।

जिनसेन त्रिवर्णाचारके १३ वें पर्वमें यह वाक्य ज्योंका त्यों नकल किया गया है। परन्तु '**नारदेन**' के स्थानमें '**भद्रबाहुना**' बनाकर इसको भी भद्रबाहुस्वामीका प्रगट किया गया है। इस वाक्यके पश्चात्, जिनसेन त्रिवर्णाचारमें, टीकाके अनुसार एक '**उक्तं च**' श्लोक देकर (जो नारदका वचन है) और '**भद्रबाहुसंहितायां गलग्रहास्तिथयः**' ऐसा लिखकर निम्न लिखित श्लोक और कुछ गद्य दिया है:-

"**कृष्णपक्षे चतुर्थीति सप्तम्यादि दिनत्रयं।**
चतुर्दशी चतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः।"

यह श्लोक और इससे आगेका गद्य दोनों वसिष्ठ ऋषिके वचन हैं, ऐसा टीकामें लिखा है। परन्तु त्रिवर्णाचारके कर्ताने इन्हें वसिष्ठके स्थानमें '**भद्रबाहुसंहिता**' का बतलाया है और गद्यके अन्तमें टीकाके अनुसार जो '**सदिति वसिष्ठोक्तेः**' ऐसा नकल करके रक्खा है उसका उसे कुछ भी खयाल नहीं रहा।

५-मुहूर्तचिन्तामणि (संस्कार प्र०) के श्लोक नं० ४४ की दोनों टीकाओंमें निम्न लिखित श्लोक क्रमशः **नारद** और **वसिष्ठके** हवालेसे दिये हैं:—

"शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं शिशोः ।
शाखाधिपतिलग्नं च त्रितयं दुर्लभं व्रते ॥
शाखेशगुरुशुक्राणां मौढ्ये बाल्ये च वार्धके ।
नैवोपनयनं कार्यं वर्णेशे दुर्बले सति ॥"

जिनसेन त्रिवर्णाचारके १३वें पर्वमें इन दोनों श्लोकोंको **नारदादिके** स्थानमें '**गौतमः**' लिखकर गौतमस्वामीका बना दिया है। त्रिवर्णाचारके कर्ताको '**गौतम**' यह नाम कुछ ऐसा प्रिय था कि उसने जगह जगह पर इसका बहुत ही प्रयोग किया है। मुहूर्तचिन्तामणिके श्लोक नं० ४२ की टीकामें एक स्थान पर यह वाक्य था कि '**कश्यपस्तूच्चस्थं लग्नस्थं चंद्रं सदैव न्यषेधीत्**' इस वाक्यमें भी '**कश्यप**' ऋषिके स्थानमें '**गौतम**' बदलकर त्रिवर्णाचारके कर्त्ताने '**गौतमस्तूच्चस्थं चंद्रं सदैव न्यषेधीत्,** ऐसा बना दिया है। इसी प्रकार मुहूर्तचिन्तामणिके श्लोक नं० ४६,५१ और ५३ की टीकाओंमें कुछ श्लोक नारदके हवालेसे थे उन्हें भी नक़ल करते समय जिनसेनत्रिवर्णाचारमें **गौतमके** बना दिया है।

६—मुहूर्तचिन्तामणिमें श्लोक नं० ४४ की टीकाको प्रारंभ करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि:—

"**यथा गुरुः ऋग्वेदिनामीशोऽतो गुरुवारे गुरुलग्ने धनमीनाख्ये गुरुबले च सत्युपनयनं शुभम् ।**"

जिनसेनत्रिवर्णाचारके १३वें पर्वमें भी यह वाक्य इसी प्रकारसे उपर्युक्त श्लोककी टीकाको प्रारंभ करते हुए दिया है। परन्तु '**ऋग्वेदिनामीशः**' के स्थानमें '**प्रथमानुयोगिनामीशः**' ऐसा बदल कर रक्खा गया है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी जहाँ टीकामें हिन्दूवेदोंके नाम आये हैं जिनसेनत्रिवर्णाचारमें उनके स्थानमें जैनमतके **अनुयोगोंके** नाम बना दिये हैं।

(७) 'केशांतसमावर्तन' मुहूर्तका वर्णन करते हुए, मुहूर्तचिन्तामणिके श्लोक नं० ६० की 'प्रमिताक्षरा' टीकामें, **आश्वलायन** ऋषिके हवालेसे एक श्लोक दिया है और उसके आगे फिर कुछ गद्य लिखा है । वह श्लोक और गद्यका कुछ अंश इस प्रकार है:—

" प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं च महाव्रतम् ।
तृतीयं स्यादुपनिषद्गोदानाख्यं ततः परम् ॥

अत्र जाताधिकाराद्गोदानं जन्माद्यके तु षोडशे इति वृत्तिकारवचनात् त्रयोदशे महानाम्न्यादि भवंति । त्रयोदशे महानाम्नी चतुर्दशे महाव्रतं पंचदशे उपनिषद्व्रतं षोडशे गोदानमिति । एवं क्षत्रिय... ॥ "

जिनसेनत्रिवर्णाचारके १३ वें पर्वमें यह सब गद्य पद्य ज्योंका त्यों नक़ल किया गया है । परन्तु उपर्युक्त श्लोकसे पहले 'आश्वलायन' के स्थानमें 'श्रीभद्रबाहु' बना दिया है । इस गद्य पद्यमें जिन **महानाम्नी** और **उपनिषद्** आदि व्रतोंके अनुष्ठानका वर्णन किया गया है वे सब हिन्दू मतके व्रत हैं; जैनमतके नहीं । इस लिए यह कथन जैनाचार्य श्रीभद्रबाहु स्वामीका नहीं हो सकता ।

जिनसेन त्रिवर्णाचारके बनानेवालेने, इस प्रकार, बहुतसे प्रकरणोंको हिन्दूधर्मके ग्रंथोंसे उठाकर रखने और उन्हें जैनमतके प्रगट करनेमें, बड़ी ही धूर्तता और धृष्टतासे काम लिया है । उसका यह कृत्य बड़ी ही घृणाकी दृष्टिसे देखे जाने योग्य है ।

[३]

अब यहाँपर, संक्षेपमें, धर्मविरुद्ध कथनोंके कुछ विशेष नमूने दिखलाये जाते हैं । जिससे जैनियोंकी और भी कुछ थोड़ी बहुत आँखें खुलें और उन्हें ऐसे जाली ग्रंथोंको अपने भंडारोंसे अलग करनेकी सद्बुद्धि प्राप्त हो:—

१-मिट्टीकी स्तुति और उससे प्रार्थना ।

जिनसेनत्रिवर्णाचारके चौथे पर्वमें, मृतिका-स्नानके सम्बन्धमें, निम्न-लिखित श्लोक दिये हैं:—

" शुद्धतीर्थसमुत्पन्ना मृत्तिका परमाद्भुता ।
सर्वपापहरा श्रेष्ठा सर्वमांगल्यदायिनी ॥
सिद्धक्षेत्रेषु संजाता गंगाकूले समुद्भवा ।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसंचितम् ॥
अनादिनिधना देवी सर्वकल्याणकारिणी ।
पुण्यसस्यादिजननी सुखसौभाग्यवर्द्धिनी ॥ "

इन श्लोकोंमें गंगा आदि नदियोंके किनारेकी मिट्टीकी स्तुति की गई है। और उसे सर्व पापोंकी हरनेवाली, समस्त मंगलोंके देनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणोंकी करनेवाली, पुण्यको उपजानेवाली, और सुखसौभाग्यको बढ़ानेवाली, अनादिनिधना देवी बतलाया है। दूसरे श्लोकमें उससे यह प्रार्थना की गई है कि 'हे मिट्टी, तू मेरे पूर्वसंचित पापोंको दूर कर दे, यह सब कथन जैनधर्मसे असंबद्ध है, और हिन्दू धर्मके ग्रंथोंसे लिया हुआ मालूम होता है। जैनसिद्धान्तके अनुसार मिट्टी पापोंको हरनेवाली नहीं है और न कोई ऐसी चैतन्यशक्ति है जिससे प्रार्थना की जाय। हिन्दूधर्ममें मिट्टीकी ऐसी प्रतिष्ठा अवश्य है। हिन्दुओंके वह्निपुराणमें स्नानके समय मृत्तिकालेपनका विधान करते हुए, मिट्टीसे यही पापोंके हरनेकी प्रार्थना की गई है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रगट है:—

" उद्धृतासि वराहेण कृष्णेनामितबाहुना ।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसंचितम् ॥
मृत्तिके जहि मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
त्वया हतेन पापेन ब्रह्मलोकं व्रजाम्यहम् ॥ " *

* देखो, शब्दकल्पद्रुम कोशमें 'मृत्तिका' शब्द ।

वह्निपुराणके इन श्लोकोंमेंसे पहले श्लोकका उत्तरार्ध और जिनसेन-त्रिवर्णाचारके, ऊपर उद्धृत किये हुए, दूसरे श्लोकका उत्तरार्ध, ये दोनों एक ही हैं। इससे और भी स्पष्ट है कि यह कथन हिंदूधर्मसे लिया गया है। जैनियोंके आर्ष ग्रंथोंमें कहीं भी ऐसा कथन नहीं है।

२–गोमूत्रसे स्नान।

जिनसेनत्रिवर्णाचारमें, ऊपर उद्धृत किये हुए तीसरे श्लोकके अनन्तर, पंचगव्यसे[1] अर्थात् गोमूत्रादिसे स्नान करना लिखा है और फिर सूर्यके सामने खड़ा होकर शरीरशुद्धि स्नानका विधान किया है। इसके पश्चात् सिरपर पानीके छींटे देनेके कुछ मंत्र लिखकर संध्यावन्दन करना और उसके बाद सूर्यकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा लिखा है। यथाः—

" निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य अमृते अमृतोद्भवे पंचगव्यस्नानं सूर्याभिमुखं स्थित्वा शरीर शुद्धिस्नानं कुर्यात्।......संध्यावन्दनानन्तरं सूर्योपस्थापनं कर्तव्यम्। "

और भी कई स्थानोंपर पंचगव्यसे स्नान करनेका विधान किया है। एक स्थानपर, इसी पर्वमें, नित्यस्नानके लिए गंगादि नदियोंके किनारे पर पंचगव्यादिके ग्रहण करनेका उपदेश दिया है। यथाः—

" अथातो नित्यस्नानार्थं गंगादिमहानदीनदार्णवतीरे पंचगव्यादिकुशतिलाक्षततीर्थमृत्तिका गृहीत्वा......"

यह सब कथन भी हिन्दूधर्मका है। हिन्दूओंके यहाँ ही **गोमय** और **गोमूत्रका** बहुत बड़ा माहात्म्य है। वे इन्हें परम पवित्र मानते हैं और इनसे स्नान करना तो क्या, इनका भक्षण तक करते हैं। उनके वाराहपुराणमें पंचगव्यके भक्षणसे तत्क्षण जन्मभरके पापोंसे छूटना लिखा है। यथाः—

---

१ गौका मूत्र, गोबर, घी, दूध और दहीको ' पंचगव्य ' कहते हैं।

"गोशकृद्द्विगुणं मूत्रं पयः स्यात्तच्चतुर्गुणम्।
घृतं तद्द्विगुणं प्रोक्तं पंचगव्ये तथा दधि॥
सौम्ये मुहूर्त्ते संयुक्ते पंचगव्यं तु यः पिवेत्।
यावज्जीवकृतात्पापात् तत्क्षणादेव मुच्यते॥" *

गोमयको, उनके यहां, साक्षात् यमुना और गोमूत्रको नर्मदा तीर्थ वर्णन किया है+। विष्णुधर्मोत्तरमें गोमूत्रके स्नानसे सब पापोंका नाश होना लिखा है। यथा:—

गोमूत्रेण च यत्स्नानं सर्वाघविनिसूदनम्।"

इसी प्रकार सूर्योपस्थापनादिक ऊपरका सारा कथन हिन्दुओंके अनेक ग्रंथोंमें पाया जाता है। जैनधर्मसे इस कथनका कोई सम्बन्ध नहीं मिलता, न जैनियोंके आर्ष ग्रंथोंमें ऐसा विधि विधान पाया जाता है और न जैनियोंकी प्रवृत्ति ही इस रूप देखनेमें आती है।

३—नदियोंका पूजन और स्तवनादिक।

जिनसेनत्रिवर्णाचारके चौथे पर्वमें, एक वार ही नहीं किन्तु दो वार, गंगादिक नदियोंको तीर्थदेवता और धर्मतीर्थ वर्णन किया है और साथ ही उन्हें अर्घ चढ़ाकर उनके पूजन करनेका विधान लिखा है। अर्घ चढ़ाते समय नदियोंकी स्तुतिमें जो श्लोक दिये हैं, उनमेंसे कुछ श्लोक इस प्रकार हैं:—

"पद्महृदसमुद्भूता गंगा नाम्नी महानदी।
स्मरणाज्जायते पुण्यं मुक्तिलोकं च गच्छति॥
केसरीद्रहसंभूता रोहितास्या महापगा।
तस्याः स्पर्शनमात्रेण सर्वपापं व्यपोहति॥

* देखो शब्दकल्पद्रुमकोशमें 'पंचगव्य' शब्द। + 'गोमयं यमुनासाक्षात् गोमूत्रं नर्मदा शुभा।'

महापुंडह्रदोद्भूता हरिकान्ता महापगा।
सुवर्णार्घप्रदानेन सुखमाप्नोति मानवः॥

रुक्मी (?) शिखरिसंभूता नारी स्रोतस्विनी शुभा।
स्वर्णस्तेयादिजान् पापान् ध्यानाच्चैव विनश्यति॥

रुक्मिणीगिरिसंभूता नरकान्ता सुसेवनात्।
पातकानि प्रणश्यंति तमः सूर्योदये यथा॥

अनेक ह्रदसंभूता नद्यः सागरसंश्रुताः।
मुक्तिसौभाग्यदात्र्यश्च सर्वे तीर्थाधिदेवताः॥"

इन श्लोकोंमें लिखा है कि–गंगानदीके स्मरणसे पुण्यकी प्राप्ति होती है और स्मरण करनेवाला मुक्तिलोकको चला जाता है; रोहितास्या नदीके स्पर्शनमात्रसे सब पाप दूर हो जाते हैं; हरिकान्ता नदीको सुवर्णार्घ देनेसे सुखकी प्राप्ति होती है; नारी नदीके ध्यानसे ही चोरी आदिसे उत्पन्न हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं; नरकान्ता नदीकी सेवा करनेसे सर्व पाप इस तरह नाश हो जाते हैं जिस तरह कि सूर्यके सन्मुख अंधकार विलय जाता है, और अन्तिम वाक्य यह है कि अनेक द्रहोंसे उत्पन्न होनेवाली और समुद्रमें जा मिलनेवाली अथवा समुद्रसहित सभी नदियाँ तीर्थ देवता हैं और सभी मुक्ति तथा सौभाग्यकी देनेवाली हैं। इस प्रकार नदियोंके स्मरण, ध्यान, स्पर्शन या सेवनसे सब सुख सौभाग्य और मुक्तिका मिलना तथा सम्पूर्ण पापोंका नाश होना वर्णन किया है। इन श्लोकों तथा अर्घोंके चढ़ानेके बाद स्नानका एक 'संकल्प' दिया है। उसमें भी मन, वचन, कायसे उत्पन्न होनेवाले समस्त पापों और संपूर्ण अरिष्टोंको नाश करनेके लिए तथा सर्व कार्योंकी सिद्धिके निमित्त देव-ब्राह्मणके सन्मुख नदी तीर्थमें स्नान करना लिखा है। यथाः—

"......पुण्यतिथौ सर्वारिष्टविनाशनार्थं शांतिकपौष्टिकादि-सकलकर्मसिद्धिसाधनयंत्र-मंत्र-तंत्र-विद्याप्रभावकासिद्धिसाधकसंसिद्धिनिमित्तं कायिकवाचिकमानसिकचतुर्विधपापक्षयार्थं देवब्राह्मणसन्निधौ देहशुद्ध्यर्थं सर्वपापक्षयार्थं अमुकतीर्थे स्नानविधिना स्नानमहं करिष्ये ॥"

सह सब कथन जैनमतके विलकुल विरुद्ध है। जैनधर्ममें न नदियोंको 'धर्मतीर्थ' माना है और न 'तीर्थदेवता।' जैनसिद्धान्तके अनुसार नदियोंमें स्नान करने या नदियोंका ध्यानादिक करने मात्रसे पापोंका नाश नहीं हो सकता। पापोंका नाश करनेके लिए वहाँ सामायिक, प्रतिक्रमण, ध्यान और तपश्चरणादिक कुछ दूसरे ही उपायोंका वर्णन है। वास्तवमें, ये सब बातें हिन्दूधर्मकी हैं। नदियोंमें ऐसी अद्भुत शक्तिकी कल्पना उन्हींके यहाँ की गई है। और इसीलिए हरसाल लाखों हिन्दू भाई दूर दूरसे अपना बहुतसा द्रव्य खर्च करके हरिद्वारादि तीर्थोंपर स्नानके लिए जाते हैं। हिन्दुओंके 'आह्निक सूत्रावावलि' नामके ग्रंथमें हेमाद्रिकृत एक लम्वा चौडा स्नानका 'संकल्प' दिया है। इस संकल्पमें बड़ी तफ़सीलके साथ, गद्यपद्य द्वारा, उन पापोंको दिखलाया है जिनको गंगादिक नदियाँ दूर कर सकती हैं और जिनके दूर करनेकी स्नानके समय उनसे प्रार्थना की जाती है। शायद ही कोई पापका भेद ऐसा रहा हो जिसका नाम इस संकल्पमें न आया हो। पाठकोंके अवलोकनार्थ यहाँ उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है:—

"रागद्वेषादिजनितं कामक्रोधेन यत्कृतम्।
हिंसानिद्रादिजं पापं भेदहष्ट्या च यन्मया॥

---

१ अमावास्या तथा श्रावणकी पौर्णमासीको इसी पर्वमें पुण्यतिथि लिखा है और उनमें स्नानकी प्रेरणा की है।

परकार्यापहरणं परद्रव्योपजीवनम् ।
ततोऽज्ञानकृतं वापि कायिकं वाचिकं तथा ॥
मानसं त्रिविधं पापं प्रायश्चित्तैरनाशितम् ।
तस्मादशेष पापेभ्यस्त्राहि त्रैलोक्यपावनि ॥ ”

“ ...इत्यादि प्रकीर्णपातकानां एतत्कालपर्यंतं संचितानां लघुस्थूलसूक्ष्माणां च निःशेषपरिहारार्थं...देवब्राह्मणसविता-सूर्यनारायणसन्निधौ गंगाभागीरथ्यां अमुक तीर्थे वा प्रवाहाभिमुखं स्नानमहं करिष्ये ॥ ”

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि त्रिवर्णाचारका यह सब कथन हिन्दूधर्मका कथन है । हिन्दूधर्मके ग्रंथोंसे, कुछ नामादिकका परिवर्तन करके, लिया गया है । और इसे ज़बरदस्ती जैन मतकी पोशाक पहनाई गई है । परन्तु जिस तरह पर सिंहकी खाल ओढ़नेसे कोई गीदड़ सिंह नहीं बन सकता, उसी तरह इस स्नानप्रकरणमें कहीं कहीं अर्हन्तादिकका नाम तथा जैनमतकी १४ नदियोंका सूत्रादिक दे देनेसे यह कथन जैनमतका नहीं हो सकता । जैनियोंके प्रसिद्ध आचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामी नदी-समुद्रोंमें, इस प्रकार धर्मबुद्धिसे, स्नान करनेका निषेध करते हैं । और उसे साफ़ तौर पर लोकमूढता बतलाते हैं । यथाः—

“आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ ”

—रत्नकरण्डश्रावकाचारः ।

सिद्धान्तसार ग्रंथमें पृथ्वी, अग्नि, जल और पिप्पलादिकको देवता माननेवालों पर खेद प्रकट किया गया है । यथाः—

“पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकान् ।
देवतात्वेन मन्यंते ये ते चिन्त्या विपश्चिता ॥ ४९ ॥ ”

इसीप्रकार जैन शास्त्रोंमें बहुतसे प्रमाण मौजूद हैं, जो यहाँ अनावश्यक समझकर छोड़े जाते हैं। और जिनसे साफ़ प्रगट है कि, न नदियाँ धर्मतीर्थ हैं, न तीर्थदेवता और न उनमें स्नान करनेसे पापोंका नाश हो सकता है। इस लिए त्रिवर्णाचारका यह सब कथन जैनमतके विरुद्ध है।

४–पितरादिकोंका तर्पण ।

हिन्दुओंके यहाँ, स्नानका अंगस्वरूप, 'तर्पण' नामका एक नित्य-कर्म वर्णन किया है। पितरादिकोंको पानी या तिलोदक (तिलोंके साथ पानी) आदि देकर उनकी तृप्ति की जाती है, इसीका नाम तर्पण है। तर्पणके जलकी देव और पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं; ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि कोई मनुष्य नास्तिक्य भावसे, अर्थात् यह समझकर कि 'देव पितरोंको जलादिक नहीं पहुँच सकता' तर्पण नहीं करता है तो जलके इच्छुक पितर उसके देहका रुधिर पीते हैं; ऐसा उनके यहाँ योगियाज्ञवल्क्यका वचन है। यथाः—

" नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः ।
पिबन्ति देहरुधिरं पितरो वै जलार्थिनः ॥ "

जिनसेनत्रिवर्णाचार (चतुर्थपर्व) में भी स्नानके बाद 'तर्पण' को नित्य कर्म वर्णन किया है और उसका सब आशय और अभिप्राय प्रायः वही रक्खा है, जो हिन्दुओंका सिद्धान्त है। अर्थात् यह प्रगट किया है कि **पितरादिकको पानी या तिलोदकादि देकर उनकी तृप्ति करना चाहिए। तर्पणके जलकी देव पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं** जैसा कि नीचे लिखे वाक्योंसे प्रगट है:—

" असंस्काराश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः ।
तेषां संतोषतृप्त्यर्थं दीयते सलिलं मया ॥ "

अर्थात्—जो कोई पितर संस्कारविहीन मरे हों, जलकी इच्छा रखते हों और जो कोई देव जलकी इच्छा रखते हों, उन सबके संतोष और तृप्तिके लिए मैं पानी देता हूँ अर्थात् तर्पण करता हूँ ।

"उपघातापघाताभ्यां ये मृता वृद्धबालकाः ।
युवानश्चामगर्भाश्च तेषां तोयं ददाम्यहम् ॥"

अर्थात्—जो कोई बूढे, बालक, जवान और गर्भस्थ जीव उपघात या अपघातसे मरे हों, मैं उन सबको पानी देता हूँ ।

"ये पितृमातृद्वयवंशजाताः गुरुस्वसृबंधू च बान्धवाश्च ।
ये लुप्तकर्माश्च सुताश्च दाराः पशवस्तथा लोपगतक्रियाश्च ॥
ये पंगवश्चान्धविरूपगर्भाः आमच्युता ज्ञातिकुले मदीये ।
आपोडशाद्वा(?)द्वयवंशजाताः, मित्राणि शिष्याः सुतसेवकाश्च ॥
पशुवृक्षाश्च ये जीवा ये च जन्मान्तरंगताः ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु स्वधातोयं ददाम्यहम् ॥"

इन पद्योंमें उन सबको तर्पण किया गया है जो पितृवंश या मातृवंशमें उत्पन्न हुए हों, गुरुबंधु या स्वसृ-बंधु हों, लुप्तकर्मा हों, सुता हों, स्त्रियाँ हों, अपनी जातिकुलके लंगडे लूले हों, अंधे हों, विरूप हों, गर्भच्युत हों, मित्र हों, शिष्य हों, सुत हों, सेवक हों, पशु हों, वृक्ष हों और जो सब जन्मांतरको प्राप्त हो चुके हों । अन्तमें लिखा है कि मैं इन सबको 'स्वधा' शब्द पूर्वक पानी देता हूँ । ये सब तृप्तिको प्राप्त होओ ।

"अस्मद्गोत्रे च वंशे च ये केचन मम हस्तजलस्य वांछां
कुर्वंति तेभ्यस्तिलोदकेन तृप्यंतां नमः ।"

अर्थात्—हमारे गोत्र और वंशमें जो कोई मेरे हाथके पानीकी वांछा करते हों, मैं उन सबको तिलोदकसे तृप्त करता हूँ और नमस्कार करता हूँ ।

"केचिदस्मत्कुले जाता अपुत्रा व्यंतराः सुराः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥ १३॥"

अर्थात्—हमारे कुलमेंसे जो कोई पुत्रहीन मनुष्य मरकर व्यंतर जातिके देव हुए हों, उन्हें मैं धोती आदि वस्त्रसे निचोडा हुआ पानी देता हूँ, वे उसे ग्रहण करें। यह तर्पणके बाद धोती निचोड़नेका मंत्र है*। इसके बाद 'शरीरके अंगोंपरसे हाथ या वस्त्रसे पानी नहीं पोंछना चाहिए, नहीं तो पुनः स्नान करनेसे शुद्धि होगी' ऐसा विधान करके उसके कारणोंको बतलाते हुए लिखा है कि—

"तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यावद्रोमाणि मानुषे।
वसन्ति तावत्तीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत्॥ १७॥
पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात्।
मध्याच्च यक्षगंधर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः॥ १८॥

अर्थात्—मनुष्यके शरीरमें जो साढ़े तीन करोड़ रोम हैं, उतने ही तीर्थ हैं। दूसरे, शरीर पर जो स्नान जल रहता है उसे मस्तक परसे देव, मुखपरसे पितर, शरीरके मध्यभाग परसे यक्ष गंधर्व और नीचेके भाग परसे अन्य सब जन्तु पीते हैं। इस लिए शरीरके अंगोंको पोंछना नहीं चाहिये।

जैनसिद्धान्तसे जिन पाठकोंका कुछ भी परिचय है, वे ऊपरके इस कथनसे भलेप्रकार समझ सकते हैं कि, त्रिवर्णाचारका यह तर्पणविषयक कथन कितना जैनधर्मके विरुद्ध है। **जैनसिद्धान्तके अनुसार न तो**

---

* हिन्दुओंके यहां इससे मिलता जुलता मंत्र इस प्रकार है:—

"ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥"

—स्मृतिरत्नाकरः।

देव पितरगण पानीके लिए भटकते या मारे मारे फिरते हैं और न तर्पणके जलकी इच्छा रखते या उसको पाकर तृप्त और संतुष्ट होते हैं। इसी प्रकार न वे किसीकी धोती आदिका निचोड़ा हुआ पानी ग्रहण करते हैं और न किसीके शरीर परसे स्नानजलको पीते हैं। ये सब हिन्दूधर्मकी क्रियायें और कल्पनाएँ हैं। हिन्दुओंके यहाँ साफ़ लिखा है कि, जब कोई मनुष्य स्नानके लिए जाता है, तब प्याससे विह्वल हुए देव और पितरगण, पानीकी इच्छासे वायुका रूप धारण करके, उसके पीछे पीछे जाते हैं। और यदि वह मनुष्य स्नान करके वस्त्र (धोती आदि) निचोड़ देता है तो वे देव पितर निराश होकर लौट आते हैं। इसलिये तर्पणके पश्चात् वस्त्र निचोड़ना चाहिए, पहले नहीं। जैसा कि निम्न लिखित वचनसे प्रगट है:—

" स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह ।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ताः सलिलार्थिनः ॥ "
" निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते ।
अतस्तर्पणानन्तरमेव वस्त्रं निष्पीडयेत् ॥ "

—स्मृतिरत्नाकरे वृद्धवसिष्ठः " ।

परन्तु जैनियोंका ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनियोंके यहाँ मरनेके पश्चात् समस्त संसारी जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच, इन चार गतियोंमेंसे किसी न किसी गतिमें अवश्य चले जाते हैं। और अधिकसे अधिक तीन समय तक ' निराहारक ' रह कर तुरन्त दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं। इन चारों गतियोंसे अलग पितरोंकी कोई निराली गति नहीं होती, जहाँ वे बिलकुल परावलम्बी हुए असंख्यात या अनन्त कालतक पड़े रहते हों। मनुष्यगतिमें जिस तरह पर वर्तमान मनुष्य किसीके तर्पणजलको पीते

नहीं फिरते उसी तरह पर कोई भी पितर किसी भी गतिमें जाकर तर्पणके जलकी इच्छासे विह्वल हुआ उसके पीछे मारा मारा नहीं फिरता। प्रत्येक गतिमें जीवोंका आहारविहार, उनकी उस गति, स्थिति और देशकालके अनुसार होता है। इस तरह पर त्रिवर्णाचारका यह सब कथन जैनधर्मके विरुद्ध है और कदापि जैनियोंद्वारा माने जानेके योग्य नहीं हो सकता। अस्तु। तर्पणका यह सम्पूर्ण विषय वहुत लम्बा चौड़ा है। त्रिवर्णाचारका कर्ता इस धार्मविरुद्ध तर्पणको करते करते वहुत दूर निकल गया है। उसने तीर्थंकरों, केवलियों, गणधरों, ऋषियों, भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों, काली आदि देवियों, १४ कुलकरों, कुलकरोंकी स्त्रियों, तीर्थंकरोंके मातापिताओं, चार पीढ़ी-तक स्वमातापितादिकों, तीर्थंकरोंको आहार देनेवालों, तीर्थंकरोंके वंशों, १२ चक्रवर्तियों, ९ नारायणों, ९ प्रतिनारायणों, ९ वलिभद्रों, ९ नारदों, महादेवादि ११ रुद्रों, इत्यादिको, अलग अलग नाम लेकर, पानी दिया है; इतना ही नहीं, वल्कि नदियों, समुद्रों, जंगलों, पहाडों, नगरों, द्वीपों, वेदों, वेदांगों, कालों, महीनों, ऋतुओं और वृक्षोंको भी, उनके अलग अलग नामोंका उच्चारण करके, पानी दिया है। हिन्दुओंके यहाँ भी ऐसा ही होता है। अर्थात् वे नारायण और रुद्रादि देवोंके साथ नदियों समुद्रों आदिका भी तर्पण करते हैं*।

१. ऋषियोंके तर्पणमें हिन्दुओंकी तरह '**पुराणाचार्य**' का भी तपण किया है। और हिन्दुओंके '**इतराचार्य**' के स्थानमें '**नवीनाचार्य**' का तर्पण किया है।

*जैसा कि **कात्यायन परिशिष्ट सूत्रके** निम्न लिखित एक अंशसे प्रगट है:—

"ततस्तर्पयेद्ब्रह्माणं पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिं देवांश्छंदांसि वेदानृषीन्पुराणाचार्यान्गन्धर्वानितराचार्यान्संवत्सरं सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतान् सरितो मनुष्यान्यक्षान् रक्षांसि पिशाचान्सुपर्णान् भूतानि पशून्वनस्पतीनोषधीर्भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामित्योंकारपूर्वम्।"

उनके यहाँ देवताओंका कुछ ठिकाना नहीं है । वे नदी-समुद्रों आदिको भी देवता मानते हैं । परन्तु मालूम नहीं कि, त्रिवर्णाचारके कर्ताने इन नद्यादिकोंको देवता समझा है, ऋषि समझा है या पितर समझा है । अथवा कुछ भी न समझकर '**नक़लमें अक़लको दख़ल नहीं**' इस लोकोक्ति पर अमल किया है । कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, त्रिवर्णाचारके कर्ताने हिन्दूधर्मके इस तर्पणसिद्धान्तको पसंद किया है और उसे जैनियोंमें, जैन तीर्थंकरादिकोंके नामादिका लालच-रूपी रंग देकर, चलाना चाहा है । परन्तु आख़िर मुलम्मा मुलम्मा ही होता है । एक न एक दिन असलियत खुले विना नहीं रहती ।

५–पितरादिकोंका श्राद्ध ।

जिनसेनत्रिवर्णाचारके चौथे पर्वमें तर्पणकी तरह 'श्राद्ध' का भी एक विषय दिया है और इसे भी हिन्दूधर्मसे उधार लेकर रक्खा है। पितरोंका उद्देश्य करके दिया हुआ अन्नादिक पितरोंके पास पहुँच जाता है, ऐसी श्रद्धासे शास्त्रोक्त विधिके साथ जो अन्नादिक दिया जाता है उसका नाम श्राद्ध है* । हिन्दुओंके यहाँ तर्पण और श्राद्ध, ये दोनों विषय क़रीब क़रीब एक ही सिद्धान्त पर अवस्थित हैं। दोनोंको 'पितृयज्ञ' कहते हैं। भेद सिर्फ़ इतना है कि तर्पणमें अंजलिसे जल छोड़ा जाता है; किसी ब्राह्मणादिकको पिलाया नहीं जाता। देव–पितरगण उसे सीधा ग्रहण कर लेते हैं और तृप्त हो जाते हैं।

* श्राद्धः—शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म इत्यमरः । पित्रुद्देश्यकं श्रद्धयान्नादि दानम् । 'श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते' इति पुलस्त्यवचनात् श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धं इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम् । इति श्राद्धतत्त्वम् । अपि च सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम् । —शब्दकल्पद्रुमः ।

परन्तु श्राद्धमें ब्राह्मणोंको भोजन खिलाया जाता है या सूखा अन्नादिक दिया जाता है। और जिसप्रकार 'लैटर बक्स' में डाली हुई चिट्ठी दूरदेशान्तरोंमें पहुँच जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंके पेटमेंसे वह भोजन देव-पितरोंके पास पहुँचकर उनकी तृप्ति कर देता है। इसके सिवाय कुछ क्रियाकांडका भी भेद है। त्रिवर्णाचारके कर्ताने जब देव-पितरोंको पानी देकर उनका विस्तारके साथ तर्पण किया है, तब वह श्राद्धको कैसे छोड़ सकता था?—पितरोंकी अधूरी तृप्ति उसे कब इष्ट हो सकती थी?—इसलिए उसने श्राद्धको भी अपनाया है। और हिन्दुओंका श्राद्धविषयक प्रायः सभी क्रियाकांड त्रिवर्णाचारमें दिया है। जैसा कि—श्राद्धके नित्य, नैमित्तिक, दैविक, एकतंत्र, पार्वण, अन्वष्टका, वृद्धि, क्षयाह, अपर-पक्ष, कन्यागत, गजच्छाया और महालयादि भेदोंका कथन करना; श्राद्धके अवसर पर ब्राह्मणोंका पूजन करना; नियुक्त ब्राह्मणोंसे 'स्वागतं,' 'सुखागतं' इत्यादि निर्दिष्ट प्रश्नोत्तरोंका किया जाना; तिल, कुश और जल हाथमें लेकर मासादिक तथा गोत्रादिकके उच्चारणपूर्वक 'अद्य मासोत्तमे मासे...' इत्यादि संकल्प बोलना; अन्वष्टकादि खास खास श्राद्धोंके सिवाय अन्य श्राद्धोंमें पिता-दिकका सपत्नीक श्राद्ध करना; अन्वष्टकादि श्राद्धोंमें माताका श्राद्ध अलग करना; नित्य श्राद्धोंमें आवाहनादि नहीं करना नित्य श्राद्धको छोड़कर अन्य श्राद्धोंमें 'विश्वेदेवों' का भी श्राद्ध करना; विश्वेदेवोंके ब्राह्मणको पितरोंके ब्राह्मणोंसे अलग बिठलाना; देवपात्रों और पितृपात्रोंको अलग अलग रखना; रक्षाका विधान करना; और तिल बखेरना; नियुक्त ब्राह्मणोंकी इजाज़तसे विश्वेदेवों तथा पिता, पितामहादिक (तीन पीढ़ी तक) पितरोंका अलग अलग आवाहन करना; विश्वेदेवों तथा पितरोंको अलग अलग आसन देकर बिठलाना और उनका अलग अलग पूजन करना; गंगा, सिंधु, सरस्वतीको अर्घ देना; ब्राह्मणोंके हाथ धुलाना और

उनके आगे भोजनके पात्र रखना; ब्राह्मणोंकी आज्ञासे ‘ अग्नौ करण ’ करना; जौं (यव) बखेरना; प्रजापतिको अर्घ देना; अमुक देव या पितरको यह भोजन मिले, ऐसे आशयका मंत्र बोलकर नियुक्त ब्राह्मणोंको तृप्तिपर्यंत भोजन कराना; तृप्तिका प्रश्नोत्तर किया जाना; ब्राह्मणोंसे शेषान्नको इष्टोंके साथ भोजन करनेकी इजाज़त लेना; भूमिको लीपकर पिंड देना; आचमन और प्राणायामका किया जाना; जप करना; कभी जनेऊको दाहने कंधे पर और कभी बाएँ कंधे पर डालना, जिसको ‘ अपसव्य ’ और ‘ सव्य ’ होना कहते हैं; आशीर्वादका दिया जाना; ब्राह्मणोंसे ‘ स्वधा ’ शब्द कहलाना, और उनको दक्षिणा देकर विदा करना; इत्यादि—

ऊपरके इस क्रियाकांडसे, पाठकोंको यह तो भले प्रकार मालूम हो जायगा कि इस त्रिवर्णाचारमें हिन्दूधर्मकी कहाँ तक नक़ल की गई है। परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि इस ग्रंथमें हिन्दूधर्मके आशयको लेकर केवल क्रियाओं ही की नक़ल नहीं की गई, बल्कि उन शब्दोंकी भी अधिकतर नक़ल की गई है; जिन शब्दोंमें ये क्रियायें हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। और तो क्या, बहुतसे वैदिक मंत्र भी ज्योंके त्यों हिन्दूग्रंथोंसे उठाकर इसमें रक्खे गये हैं। नीचे जिनसेनत्रिवर्णाचारसे, उदाहरणके तौर पर, कुछ वाक्य और मंत्र उद्धृत किये जाते हैं; जिनसे श्राद्धका आशय, उद्देश, देवपितरोंकी तृप्ति और नक़ल वगैरहका हाल और भी अच्छी तरहसे पाठकों पर विदित हो जायगाः—

“ नित्यश्राद्धेऽर्थगंधाद्यैर्द्विजानर्चेत्स्वशक्तितः ।
सर्वान्पितृगणान्सम्यक् तथैवोद्दिश्य योजयेत् ॥ १ ॥ ”

इस श्लोकमें नित्य श्राद्धके समय ब्राह्मणोंका पूजन करना और सर्व पितरोंको उद्देश्य करके श्राद्ध करना लिखा है। इसी प्रकार दूसरे स्थानों

पर भी 'ब्राह्मणं गंधपुष्पाद्यैः समर्चयेत्,' 'अस्मत्पितुर्निमित्तं नित्यश्राद्धमहं करिष्ये,' इत्यादि वचन दिये हैं।

"नावाहनं स्वधाकारः पिंडाग्नौकरणादिकम्।
ब्रह्मचर्यादिनियमो विश्वेदेवास्तथैव च ॥ २ ॥"

इस श्लोकमें उन कर्मोंका उल्लेख किया है, जो नित्य श्राद्धमें वर्जित हैं। अर्थात् यह लिखा है कि नित्य श्राद्धमें आवाहन, स्वधाकार, पिंड-दान, अग्नौकरणादिक, ब्रह्मचर्यादिका नियम और विश्वेदेवोंका श्राद्ध नहीं किया जाता। यह श्लोक हिन्दूधर्मसे लिया गया है। हिन्दुओंके 'आह्निक सूत्रावलि' ग्रंथमें इसे व्यासजीका वचन लिखा है।

"दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ५ ॥"

अर्थात्—पितरोंकी प्रीति प्राप्त करनेके अभिलाषीको चाहिए कि वह अन्नादिक या जलसे अथवा दूध और मूल फलोंसे नित्य श्राद्ध करे। इससे प्रगट है कि पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध किया जाता है और पितरगण उससे खुश होते हैं। यह श्लोक **मनुस्मृतिके** तीसरे अध्यायसे उठाकर रक्खा गया है और इसका नम्बर वहाँ ८२ है।

"अप्येकमाशयेद्विप्रं पितृयज्ञार्थसिद्धये।
अदैवं नास्ति चेदन्यो भोक्ता भोज्यमथापि वा ॥ ६ ॥"
अप्युद्धृत्य यथाशक्ति किंचिदन्नं यथाविधि।
पितृभ्योऽथ मनुष्येभ्यो दद्यादहरहर्द्विजे ॥ ७ ॥
पितृभ्य इदमित्युक्त्वा स्वधावाच्यं च कारयेत्॥८॥(पूर्वार्ध)"

---

१ मैं अपने पिताके निमित्त नित्य श्राद्ध करता हूँ। २ मनुस्मृतिमें 'दद्यात्' के स्थानमें 'कुर्यात्' लिखा है। परन्तु **मिताक्षरादि** ग्रंथोंमें 'दद्यात्' के साथ ही इसका उल्लेख किया है। ३ कात्यायनस्मृतिमें 'स्वधाकारमुदीरयेत्' ऐसा लिखा है।

ये सब वाक्य **कात्यायन स्मृति** (१३ वें खंड) के हैं। वहींसे उठाकर त्रिवर्णाचारमें रक्खे गये हैं। इनमें लिखा है कि 'यदि कोई दूसरा ब्राह्मण भोजन करनेवाला न मिले अथवा भोजनकी सामग्री अधिक न हो, तो पितृयज्ञकी सिद्धिके लिए कमसे कम एक ही ब्राह्मणको भोजन करा देना चाहिए। और यदि इतना भी न हो सके, तो कुछ थोड़ासा अन्न पितरादिकोंके वास्ते ब्राह्मणको ज़रूर दे देना चाहिए। पितरोंके लिए जो दिया जाय उसके साथमें '**पितृभ्यः इदं स्वधा,**' यह मंत्र बोलना चाहिए।'

" अन्वष्टकासु वृध्दौ च सिध्दक्षेत्रे क्षयेऽहनि ।
मातुः श्राध्दं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह ॥ "

अर्थात्—अन्वष्टका, वृद्धि, सिद्धक्षेत्र, क्षयाह, इन श्राद्धोंमें माताका श्राद्ध अलग करना चाहिए। दूसरे अवससरों पर पतिके संग करे। यह श्लोक भी हिन्दूधर्मका है और '**मिताक्षरा**' में इसी प्रकारसे दिया है। सिर्फ़ दूसरे चरणमें कुछ थोड़ासा भेद है। मिताक्षरामें '**क्षयेऽहनि**' से पूर्व '**गयायां च**' ऐसा पद दिया है। और इसके द्वारा गयाजीमें जो श्राद्ध किया जाय उसको सूचित किया है। त्रिवर्णाचारमें इसको बदलकर इसकी जगह '**सिद्धक्षेत्रे**' बनाया गया है।

" आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः ।
ये यत्र योजिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते ॥ "

हिन्दुओंके यहाँ, *'**विश्वेदेवा**' नामके कुछ देवता हैं, जिनकी

---

* यथाः—" ऋतुर्दक्षो वसुः सत्यः कामः कालस्तथाध्वनिः (धृतिः) ।
रोचकश्चार्द्रवाश्चैव तथा चान्ये पुरूरवाः ॥
विश्वेदेवा भवन्त्येते दश सर्वत्र पूजिताः । "
—वह्निपुराण ।

संख्या १० है। ऊपरका यह श्लोक उन्हींके आवाहनका मंत्र है। मिताक्षरामें इसे विश्वेदेवोंके आवाहनका स्मार्त मंत्र लिखा है। हिन्दुओंके गारुडादि ग्रंथोंमें भी यह मंत्र पाया जाता है। जिनसेनत्रिवर्णाचारमें भी यह मंत्र विश्वेदेवोंके आवाहनमें प्रयुक्त किया गया है। परन्तु ज़रासे परिवर्तनके साथ। अर्थात् त्रिवर्णाचारमें 'महाबलाः' के स्थानमें 'चतुर्दश' शब्द दिया है। बाक़ी मंत्र बदस्तूर रक्खा है। त्रिवर्णाचारके कर्ताने जैनियोंके १४ कुलकरोंको 'विश्वेदेवा' वर्णन किया है। इसीलिए उसका यह परिवर्तन मालूम होता है। परन्तु जैनियोंके आर्ष ग्रंथोंमें कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं पाया जाता।

"आर्त्तरौद्रमृता ये न ज्ञातिनां कुलभूषणाः।
उच्छिष्टभागं गृह्णन्तु दर्भेषु विकिराशनम्॥
अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।
भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिम्॥"

अर्थात्—जो कोई आर्त या रौद्र परिणामोंके साथ मरे हों, जातियोंके भूषण न हों अर्थात् क्षुद्र मनुष्य हों वे सब दर्भके ऊपर डाले हुए भोजनके इस उच्छिष्ट भागको ग्रहण करो। और जो मेरे कुलमें अग्निसे दग्ध हुए हों अथवा जिनको अग्निका दाह प्राप्त न हुआ हो वे सब पृथ्वीपर डाले हुए इस भोजनसे तृप्त होओ और तृप्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त होओ। ये दोनों श्लोक पिंड देते समयके मंत्र हैं। दूसरा श्लोक हिन्दुओंके मिताक्षरा और गारुडादि ग्रंथोंमें भी पाया जाता है। और पहले श्लोकका आशय मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके श्लोक नं० २४५-२४६ से मिलता जुलता है। त्रिवर्णाचारके इन श्लोकोंसे साफ़ ज़ाहिर है कि पितरगण पिंड ग्रहण करते हैं और उसे पाकर तृप्त होते तथा उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं।

एक स्थानपर त्रिवर्णाचारके इसी प्रकरणमें मोदक और विष्टरका पूजन करके और प्रत्येक मोदकादिक पर ' नमः पितृभ्यः ' इस मंत्रके उच्चारण पूर्वक डोरी बाँधकर उन्हें पितरोंके लिए ब्राह्मणोंको देना लिखा है । और इस मोदकादिके प्रदानसे पितरोंकी अक्षय तृप्ति वर्णन की है और उनका स्वर्गवास होना लिखा है । यथा:—

"......मातृणां मातामहानां चाक्षया तृप्तिरस्तु ।"

" अनेन मोदकप्रदानेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपाणां आचार्याणां तृप्तिरस्तु । स्वर्गे वासोऽस्तु ।"

श्राद्धके अन्तमें आशीर्वाद देते हुए लिखा है कि:—

" आयुर्विपुलतां यातु कर्णे यातु महत् यशः ॥
प्रयच्छन्तु तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥ "

अर्थात्—आयुकी वृद्धि हो, महत् यश फैले और मनुष्योंके पितरगण प्रसन्न होकर श्राद्ध करनेवालोंको राज्य देवें । इस कथनसे भी त्रिवर्णाचारमें श्राद्धद्वारा पितरोंका प्रसन्न होना प्रगट किया है । इस श्लोकका उत्तरार्ध और याज्ञवल्क्य स्मृतिमें दिये हुए श्राद्धप्रकरणके अन्तिम श्लोकका उत्तरार्ध दोनों एक हैं । सिर्फ़ ' प्रयच्छन्ति ' की जगह यहाँ ' प्रयच्छन्तु ' बनाया गया है ।

" (१) ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमासनं स्वाहा (२) ॐ अमुकगोत्रेभ्यः पितापितामहप्रपितामहेभ्यः सपत्नीकेभ्य इदमासनं स्वधा (३) ॐ विश्वेदेवानामावाहयिष्ये (४) ॐ आवाहय (५) ॐ अग्नौकरणमहं करिष्ये (६) ॐ कुरुष्व (७) ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा (८) ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा (९) आपोहीष्ठा मयो भुवः (१०) ॐ पृथिवीते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुमोमि स्वाहा (११) तिलोसि सोमदेवत्यो गोसवो देवनिर्मितः । प्रत्नवद्भिः पृक्तः स्वधया पितॄँल्लोकान्पुणाहि नः स्वाहा ॥ "

ये सब हिन्दुओंके मंत्र हैं । और गारुड या मिताक्षरादि हिन्दू ग्रन्थोंसे उठाकर रक्खे गये हैं । इस प्रकार यह श्राद्धका सारा प्रकरण हिंदूधर्मसे लिया गया है । इतने पर भी त्रिवर्णाचारका कर्ता लिखता है कि मैं 'उपासकाध्ययन' में कही हुई श्राद्धकी विधिको वर्णन करता हूँ । यथाः—

"गणाधीशं श्रुतस्कंधमपि नत्वा त्रिशुद्धितः ।
श्रीमच्छ्राद्धविधिं वक्ष्ये श्रावकाध्ययनोदिताम् ॥"

यह सब लोगोंको धोखा दिया गया है । वास्तवमें, तर्पणकी तरह, श्राद्धका यह सब कथन जैनधर्मके विरुद्ध है । जैनधर्मसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है । जैन सिद्धान्तके अनुसार ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन या दिया हुआ अन्नादिक कदापि पितरोंके पास नहीं पहुँच सकता । और न ऐसा करनेसे देव पितरोंकी कोई तृप्ति होती है ।

६–सुपारी खानेकी सज़ा ।

जिनसेनत्रिवर्णाचारके ९ वें पर्वमें लिखा है कि, जो कोई मनुष्य पानको मुखमें न रखकर, अर्थात् पानसे अलग सुपारी खाता है वह सात जन्म तक दरिद्री होता है और अन्त समयमें (मरते वक्त) उसको जिनेंद्र देवका स्मरण नहीं होता । यथाः—

"अनिधाय मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः ।
सप्तजन्मदरिद्रः स्यादन्ते नैव स्मरेज्जिनम् ॥ २३५ ॥"

पाठकगण, देखा, कैसा धार्मिक न्याय है ! कहाँ तो अपराध और कहाँ इतनी सख्त सज़ा ! क्या जैनियोंकी कर्मफ़िलासोफ़ी और जैनधर्मसे इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है ? कदापि नहीं । यह कथन हिन्दूधर्मके किसी ग्रंथसे लिया गया है । हिन्दुओंके स्मृतिरत्नाकर ग्रंथमें यह श्लोक बिलकुल ज्योंका त्यों पाया जाता है । सिर्फ़ अन्तिम

चरणका भेद है । यहाँ अन्तिम चरण 'नरकेषु निमज्जति' (नरकोंमें पड़ता है), इस प्रकार दिया है । त्रिवर्णाचारमें इसी अन्तिम चरणको बदलकर उसके स्थानमें 'अन्ते नैव स्मरेज्जिनम्' ऐसा बनाया गया है । इस परिवर्तनसे इतना जरूर हुआ है कि कुछ सजा कम हो गई है । नहीं तो बेचारेको, सात जन्म तक दरिद्री रहनेके सिवाय, नरकमें और जाना पड़ता !

७—ऋतुकालमें भोग न करनेवाली स्त्रीकी गति ।

जिनसेनत्रिवर्णाचारके १२ वें पर्वमें, गर्भाधानका वर्णन करते हुए, लिखा है कि:—

" ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति ।
शुनी वृकी शृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा ॥ २७ ॥"

अर्थात्—ऋतुकालमें, स्नानके पश्चात्, जो स्त्री अपने पतिसे संभोग नहीं करती है वह मरकर कुत्ती, भेड़िनी, गीदड़ी, सूअरी और गधी होती है । यह कथन बिलकुल जैनधर्मके विरुद्ध है । और इसने जैनियोंकी सारी कर्मफ़िलासोफ़ीको उठाकर ताकमें रख दिया है । इसलिये यह कथन कदापि जैनाचार्योंका नहीं हो सकता । यह श्लोक भी, ज्योंका त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ, हिन्दूधर्मके किसी ग्रंथसे लिया गया मालूम होता है । क्यों कि हिन्दूधर्मके ग्रंथोंमें ही इस प्रकारकी आज्ञायें प्रचुरताके साथ पाई जाती हैं । उनके यहाँ जब ऋतुस्नाताके साथ भोग न करने पर पुरुषको नरकमें पहुँचाया है, तब क्या ऋतुस्नाता होकर भोग न करने पर स्त्रीको तिर्यंचगतिमें न भेजा होगा ? जरूर भेजा होगा । पराशरजीने तो ऐसी स्त्रीको भी सीधा नरकमें ही भेजा है । और साथ ही वारम्वार विधवा होनेका भी फ़तवा (धर्मादेश) दे दिया है । यथाः—

" ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति ।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥ ४-१४ ॥ "
—पराशरस्मृतिः ।

इसी प्रकार हिन्दूधर्मके और बहुतसे फुटकर श्लोक इस त्रिवर्णाचारमें पाये जाते हैं, जो या तो ज्योंके त्यों और या कुछ परिवर्तनके साथ रक्खे गये हैं ।

इस तरह पर धर्मविरुद्ध कथनोंके ये कुछ थोड़ेसे नमूने हैं । और इनके साथ ही इस ग्रंथकी परीक्षा भी समाप्त की जाती है ।

ऊपरके इस समस्त कथनसे, पाठकगण, भले प्रकार विचार सकते हैं कि यह ग्रंथ (जिनसेन त्रिवर्णाचार) कितना जाली, बनावटी तथा धर्मविरुद्ध कथनोंसे परिपूर्ण है । और ऐसी हालतमें यह कोई जैनग्रंथ हो सकता है या कि नहीं । वास्तवमें **यह ग्रंथ विषमिश्रित भोजनके समान त्याज्य** है, और कदापि विद्वानोंमें आदरणीय नहीं हो सकता । इसे गढ़कर ग्रंथकर्ताने, निःसन्देह, जैनसमाजके साथ बड़ा ही शत्रुताका व्यवहार किया है । यह सच पूछिये तो, सब ऐसे ही ग्रंथोंका प्रताप है जो आजकल जैनसमाज अपने आदर्शसे गिरकर अनेक प्रकारके मिथ्यात्वादि कुसंस्कारोंमें फँसा हुआ है । यदि जैनसमाजको अपने हितकी इच्छा है तो उसे सावधान होकर, शीघ्र ही ऐसे जाली और धर्म-विरुद्ध ग्रंथोंका बहिष्कार करना चाहिये । ता० १५–८–१९१४.

विचारवान् सज्जनोंके पढ़ने योग्य

उत्तम पुस्तकें ।

१ दर्शनसार । इसके कर्त्ता विक्रम संवत् ९९० में हुए हैं । प्राकृतका ग्रन्थ है । इसमें श्वेताम्बर, काष्ठासंघ, यापनीय, माथुरसंघ, बौद्ध, आजीवक, आदि अनेक दर्शनों या मतोंकी उत्पत्तिका इतिहास दिया है । मूल प्राकृत, संस्कृतछाया, हिन्दी अर्थ और जैनहितैषीसम्पादक नाथूराम प्रेमीके लिखे हुए विस्तृत विवेचनसहित यह पुस्तक छपी है । मूल्य चार आने ।

२ विद्वद्रत्नमाला (प्रथम भाग) इसमें आचार्य जिनसेन, गुणभद्र आशाधर, वादिराजसूरि, मल्लिषेणसूरि, अमितगति, और समन्तभद्र इन आचार्योंका इतिहास बड़ी खोजके साथ सैकड़ों प्रमाणों सहित लिखा गया है । लेखक, नाथूराम प्रेमी । मूल्य आठ आने ।

३ कर्नाटक जैन कवि । लेखक, नाथूराम प्रेमी । कर्नाटक प्रान्तमें कनड़ी भाषाके बड़े बड़े नामी कवि और लेखक जैनधर्मके पालनेवाले हुए हैं । इस तरहके ७५ कवियोंका और उनके ग्रन्थोंका ऐतिहासिक परिचय इस पुस्तकमें दिया गया है । मूल्य लागतसे आधा केवल आधा आना ।

विवाहका उद्देश्य । लेखक, बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार । जैनग्रन्थोंके अनेक प्रमाण देकर इसमें विवाहके उद्देश्यपर शास्त्रीय पद्धतिपर विचार किया गया है । मूल्य एक आना ।

५ हिन्दीजैनसाहित्यका इतिहास । लेखक, नाथूराम प्रेमी । पृष्ठसंख्या १२० । मूल्य छह आने । इसमें प्रारंभसे लेकर अबतकके जैन कवियों, ओर उनके हिन्दी ग्रन्थोंका परिचय दिया गया है, और स्वतंत्रतापूर्वक जैनसाहित्यकी आलोचनाकी गई है ।

मैनेजर, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, गिरगाँव–बम्बई ।